सैद्धान्तिक-प्रश्नोत्तरी

द्रव्य-सहायक

श्री घीसूलालजी दूलीचन्दजी बागमार

•

व्यवसाय-केन्द्र

के० घीसूलाल एण्ड क०	**मै० केवलचन्द घीसूलाल**
१०, चन्द्रप्पा मुद्दली स्ट्रीट,	**बागमार**
साहूकार पैठ	**कोसाणा (जोधपुर)**
मद्रास–१	

श्रीमज्जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा० के २०२६ के
कोसाणा चातुर्मास की पावन स्मृति मे

नाम पुस्तक

सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी

•

संशोधक सम्पादक

कन्हैयालाल लोढा, एम० ए०

•

प्रकाशक

श्री सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल

बारह गणगौर का रास्ता,

जयपुर–३

•

द्वितीय संस्करण १०००

•

मूल्य एक रुपया मात्र

(ज्ञान खाते)

प्रकाशकीय

२६ वर्षों से जैनाचार्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी म सा के प्रेरणारूप आशीर्वाद से स्वाध्याय सघ निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है। प्रतिवर्ष मुनिराजो व महासतियो के चातुर्मास से वचित क्षेत्रो मे पर्यूषणपर्व के दिनो मे स्वाध्यायी श्रावको को भेजकर अन्तगड दशाग सूत्र का वाचन आदि आवश्यक जानकारी देने का प्रबन्ध किया जाता है। गर्मियो मे स्थान-स्थान पर शिविर लगाकर देश के भावी निर्माता बालवृन्द को जैनधर्म के सिद्धान्तो के अनुरूप नैतिक शिक्षा दी जाती है। स्वाध्यायियो और शिविरार्थियो के लिए प्रस्तुत पुस्तक बडी उपयोगी है।

प्रस्तुत सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी के द्वितीय सस्करण के प्रकाशन मे श्री घीसूलालजी बागमार ने विशेष रुचि दिखाई है। श्री बागमार कोसाणा निवासी है। आपके पिता स्वर्गीय श्री केवलचन्दजी बागमार अपने ग्राम के प्रमुख श्रावक थे। आपके माताजी स्वर्गीय श्री किस्तूर बाई जी की सरलता व सादगी प्रशसनीय थी। श्री घीसूलालजी बागमार बडे ही भावनाशील, श्रद्धालु, सामाजिक कार्यो मे रुचि रखने वाले उदार सद्गृहस्थ हैं। आप स्वाध्यायप्रेमी हैं और पर्यूषण पर्वाराधना कराकर समाज को लाभान्वित करते रहते है। आप आचार्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी म सा का कोसाणा चातुर्मास की विनती करने वाले प्रमुख श्रावको मे से है। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री रेखचन्दजी सा एव सुपुत्र श्री दुलीचन्दजी सा ने भी चातुर्मास मे सेवा का सराहनीय लाभ लिया है। आपने इस चातुर्मास की प्रसन्नता मे प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन मे व्यय होनेवाली सम्पूर्ण राशि प्रदान की इस सहायता का मण्डल हार्दिक अभिनन्दन करता है। श्री कन्हैया

लोढा ने संशोधन एवं सम्पादन कर इस पुस्तक को नवरूप प्रदान किया एतदर्थ धन्यवाद।

अन्त मे प्रस्तुत पुस्तक के प्रूफ रीडिंग आदि मे श्री पार्श्व-कुमारजी मेहता ने भावनापूर्ण सहयोग दिया एतदर्थ मण्डल आपका भी अत्यन्त आभारी है।

सुज्ञेषु किं बहुना

जयपुर
दिनाक ११-११ ७२

भवदानुरत
नथमल हीरावत
मन्त्री
श्री सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल,
जयपुर-३

श्रीमज्जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा० बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। आपकी ज्ञान-गरिमा, चारित्रिक महिमा एव प्रवचन मधुरिमा से जैन-जगत का प्रत्येक श्रावक परिचित है, साठ वर्ष से अधिक आयु होने पर भी प्रात काल से सायकाल तक अथक परिश्रम करके आप जो श्रुत की महती सेवा कर रहे है, यह इतिहास मे उल्लेखनीय है। आप सतत साधना मे निरत रहते हुए भी समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए भी सदैव सचेष्ट रहते हैं। समाज मे चारित्र की उन्नति के लिए व्रत-प्रत्याख्यान व सामायिक साधना की तथा दर्शन-शुद्धि व ज्ञान वृद्धि के लिए स्वाध्याय की आप सबको बराबर प्रेरणा देते रहते हैं। आपसे प्रेरणा पाकर अगणित व्यक्ति सामायिक व्रतधारी एव स्वाध्यायी बने है और साधना-क्षेत्र मे प्रवेश किया है।

आपकी प्रेरणा एव स्वर्गीय मरुधर केसरी परमपूज्य स्वामी श्री पन्नालालजी म० सा० व उनके शिष्य ज्योतिर्विद प० रत्न श्री कुन्दनमलजी म० सा० की प्रेरणा से बने लगभग ढाईसौ स्वाध्यायी श्रावको ने इस वर्ष एकसौ बीस से भी अधिक स्थानो पर जाकर पर्यूषण

पर्व मे शास्त्र-वाचन एव धर्माराधना कराते हुए समाज की एक बहुत बडी आवश्यकता की पूर्ति की है। स्थानकवासी समाज के लिए वस्तुत यह एक महती देन है।

आचार्य श्री ने स्वाध्यायी बन्धुओ की ज्ञान-वृद्धि के लिए प्रारम्भ मे ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की है। आगम शास्त्रो पर आपकी टीकाए आदि विद्वान व तत्वज्ञ पाठको के लिए विशेष उपयोगी है तो प्रवचन व स्तवन साहित्य सामान्य एव विद्वान सभी जनो के लिए रुचिकर व उपयोगी है।

आपके द्वारा रचित पर्यूषण-पर्व-पदावली, पर्यूषण-पर्व-साधना आदि पुस्तको का धार्मिक-शिक्षण-शिविरो मे भारी स्वागत किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी' भी इसी श्रेणी का ग्रन्थ है। इसका प्रथम सस्करण मडल ने भोपालगढवासी स्व० श्री जोगीदासजी, जालमचदजी बाफणा के परिवार की द्रव्य सहायता से निकाला था। इसमे आचार्य श्री के प्रश्नोत्तरो के साथ श्री पारसमुनिजी द्वारा लिखित श्री भगवतसूत्र के प्रश्नोत्तरो का भी यथा स्थान सकलन किया था। इसका सपादन समाज के उत्साही, कर्मठ विद्वान श्री पारसमलजी 'प्रसून' एम ए , साहित्य-रत्न ने किया था। यह सस्करण स्वाध्यायियो के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ और शीघ्र ही समाप्त हो गया। पुस्तक की माग बढती जा रही थी तथा कतिपय सामयिक नवीन प्रश्न भी सामने आए। आचार्य श्री से इन प्रश्नो का समाधान लिया गया तथा पूर्व प्रकाशित प्रश्नोत्तरो का भी पुनरावलोकन कर उनमे सवर्धन किया गया। इस दूसरे सस्करण मे सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी का यही परिवर्धित रूप आपके समक्ष प्रस्तुत है।

सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी मे दो खण्ड है। प्रथम खण्ड मे पाठको के हृदय मे उठने वाले तात्त्विक, दार्शनिक एव वर्तमान युग से सम्बन्धित

प्रश्नो के उत्तर है। द्वितीय खण्ड मे, जो श्रावक पर्यूषण पर्वाराधनार्थ बाहर जाते है और वहाँ अतगड सूत्र का वाचन करते है उस समय उनके समक्ष जो प्रश्न उपस्थित है उनका समाधान है। प्रश्नो का समाधान तर्क-सम्मत एव युक्तियुक्त है। समाधान मे प्रयुक्त भाव, भाषा व शैली सभी सुन्दर एव सरस है।

गहन प्रश्नो का उत्तर सरल भाषा व सक्षिप्त मे होने से यह ग्रन्थ पहले से ही अति उपयोगी है परन्तु इस सस्करण मे आधुनिक नवीन प्रश्नोत्तरो को और जोड देने से ग्रन्थ की उपयोगिता पहले से अधिक बढ गई है। आशा है पाठक प्रथम सस्करण से भी इस सस्करण का अधिक समादार करेंगे तो मडल सम्यक् ज्ञान के प्रचारार्थ भविष्य मे भी भव्य व नव्य कृतिया प्रकाशित कराकर पाठको की सेवा अधिकाधिक कर सकेगा।

विनीत
कन्हैयालाल लोढा
एम.ए

कोसाना (मारवाड)
स० २०२९ चातुर्मास
दीपावली,
५-११-१९७२

प्रश्न सूची

प्रथम खण्ड

तात्त्विक एवं सामयिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न सूची

प्रथम खण्ड

तात्त्विक एवं सामयिक प्रश्नोत्तर

द्वितीय ड

अतगड दशाग के प्रश्नोत्तर

ात्त्विक एवं ामयिक

प्रश्नोत्तर

॥-ओ-॥

प्रश्न १ ससार वास्तव मे क्या है ? कब से है ? और कब तक रहेगा ?

उत्तर—जैन शास्त्र के अनुसार (पूर्णज्ञानी वीतराग के दर्शनानुसार) जीव-अजीव या जड चेतन का सयोग ही वास्तव मे ससार है। इसकी न कोई आदि है न अन्त। हर चीज के वाहरी रूप बदलते रहते है, पर मूल द्रव्य कभी नष्ट नही होता। ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने वाले वैदिक ऋषि भी जीव, ब्रह्म और परमाणु इन तीनो को नित्य मानते है।❀ जैसे मुर्गी से अण्डा और अण्डे से मुर्गी अनादि परम्परा है। मुर्गी के विना अण्डा नही और अण्डे के बिना मुर्गी नही, वैसे ही जीव-कर्म के सयोग की भी अनादि परम्परा है। वैदिक ऋषि जो ब्रह्म और माया के सयोग से सृष्टि निर्माण की वात कहते है, वह ब्रह्म भी कोई दूसरा नही, जीव ही है और पुद्गल ही माया अथवा जड प्रकृति है। दोनो का सयोग ही विश्व की बिचित्रता एव विविधता का कारण है।

शास्त्र मे कहा है —

किमिय भते ! लोएति पवुच्चइ ? गोयमा ! पचत्थि-काया, एस ण एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ, तजहा-धमत्थि-काए अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए।

—भगवती सूत्र श० १३।४

❀ देखिये ऋग्वेद भाष्य भूमिका —ऋषि दयानन्द

प्रश्न २. गुरुदेव ! वैदिक शास्त्र ईश्वर को एक बताता है और संसार के समस्त जीवों को ईश्वर का अंश रूप मानता है। इसमे वस्तुस्थिति क्या है ? इससे अवगत कराने की कृपा करें।

पृथक् बोले जाते है एव उन सब के गुण, धर्म और आकार भी अलग-अलग दिखाई देते है। सामान्य दृष्टि जहाँ वस्तु के सामान्य रूप का परिचय देती है। विशेष दृष्टि वहाँ पर वस्तु की विशेषताओ, बारीकियो और खूबियो का दिग्दर्शन कराती हुई सामान्य से उन्हे पृथक् कर देती है। इसी प्रकार ईश्वर या जीव गुणधर्म की समानता मे एक है और व्यक्ति भेद से भिन्न है। वीतराग वाणी एकान्त एक या एकान्त अनेक नही मानती। वहाँ "एगे सिद्धे" पद से ईश्वर को एक और "अणन्ता सिद्धा अणता असिद्धा' से अनन्त भी कहा है।

जीवो को ईश्वर का अश मानने मे यह बाधा आती है कि जो जिसका अश होता है उसमे अपने अशो के गुणधर्म से विपरीत गुण नही होते। मिश्री के कण मे वही मिठास होगा जो मिश्री मे है। यह नही हो सकता कि मिश्री मे तो मिठास हो और उसके अश (कण) मे कडवापन। ऐसे ही जीव को ईश्वर का अश माना जाय तो ईश्वर के निराकुलता और सर्वज्ञता आदि लोकोत्तर गुण जीव मे भी होने चाहिये। किन्तु जीव मे उसके विपरीत दु ख, शोक एव आकुलता आदि दोषो के दर्शन होते है। अत समझना चाहिये कि जीव और ईश्वर पृथक्-पृथक् है। गीता मे श्री कृष्ण ने भी जीव और ब्रह्म (ईश्वर) का स्पष्ट रूप से पृथक् उल्लेख किया है। जैसे—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चा क्षर एव च।
> क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

अर्थात् ससार मे दो तरह के पुरुष है एक क्षर तथा दूसरा अक्षर। जिनमे सब भूतो को क्षर और ब्रह्म को अक्षर कहा गया है। यदि जीव को ईश्वर का अभिन्न अश माना जाय

तो वह भी ब्रह्म की तरह शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण और अविनाशी होना चाहिये । फिर जो गीता मे—

"यद्-यद् विभूतिमत् सत्व श्री मदूर्जितमेव वा ।
तत् त देवावगच्छत्व, म तेजोऽश-सभवम् ।।"

यहा विभूति मान जीव के लिए ईश्वराश का कथन किया गया है, वह गुणधर्म के अल्प विकसित रूप को ही अश मानकर कहा जाय तो सगत हो सकता है ।

जैसे विशाल श्रुत सागर मे अध्ययन करने वाला व्यक्ति, सिन्धु मे से बिन्दु पाना मानता है । वह किसी दूसरे का अश नही, अपने ही गुण का एक अश प्रकट करना है । यही बात जीव के विषय मे भी समझना चाहिये । क्योकि हर एक जीव मे ईश्वर की तरह ज्ञान शक्ति एव आनन्दादि गुण सत्ता रूप से विद्यमान है । जैसे-जैसे मनुष्य तपश्चर्यादि के द्वारा चिरकाल से अपने ज्ञानादि गुणो पर पडे हुए आवरण को दूर करता है, वैसे-वैसे ही ज्ञानादि गुणो का अश प्रगट होता रहता है । अद्वैत दृष्टि से जीव को ईश्वर का अश कहा गया है, पर वास्तव मे दोनो स्वतन्त्र हैं । अपेक्षा से जीव और ईश्वर को भिन्न एव अभिन्न मानने पर ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है ।

प्रश्न ३ जैन शास्त्र की दृष्टि से ईश्वर या परमात्मा का क्या स्वरूप है ? उसमे जगत् कर्तृत्व क्यो नहीं माना जाता ? स्पष्ट करने की कृपा करें ।

उत्तर—बहुत से लोग कहा करते हैं कि जैन धर्म ईश्वर को नही मानता, किन्तु तथ्य यह है कि जैन धर्म ईश्वर को तो मानता है, पर उसे ससार का कर्त्ता-धर्ता और हर्ता नही

मानता। कारण जैन धर्म के अनुसार ईश्वर-परमात्मा सर्वथ वीतराग, सर्वज्ञ एव निष्काम माना गया है। उसमे—
१ अज्ञान, २ निद्रा, ३ राग, ४ द्वेष, ५ मिथ्यात्व, ६ अवरति ७ हास्य, ८ रति, ९ अरति, १० भय, ११ शोक, १२ घृणा, १३ काम, १४ दानान्तराय, १५ लाभानराय, १६ भोगान्तराय, १७ उपभोगान्तराय, १८ वीर्यान्तराय। ये १८ दोष नही होते। यहा पर ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द और शक्ति के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को धारण करने वाला पूर्ण पुरुष ही ईश्वर माना गया है, जो शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण, कृत-कृत्य, वीतराग और अनन्त शक्ति सम्पन्न होता है। वीत-राग होने से परमात्मा रागद्वेषादि मय विचित्र ससार का कर्त्ता नही हो सकता।

जैन धर्म की दृष्टि से अरिहत और सिद्ध रूप से देव दो प्रकार के है। अरिहन्त देव शरीरधारी होने से उपदेश देते, मुमुक्षु जीव को कल्याण मार्ग मे लगाते और कुमार्ग जाने वाले को उपदेश देकर रोकते है। इनके चार अघाती कर्म वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र शेष रहते है इसलिए अरिहन्त देव साकार होते और उपदेश द्वारा भविजनो का कल्याण करते है। परन्तु सिद्ध परमात्मा निरजन-निराकार होने से मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। ससार के शुभाशुभ पदार्थ और भले-बुरे कर्मो मे वे सिद्ध, केवल ज्ञाता दृष्टा रूप से साक्षी मात्र होते है। ज्ञान और आनन्द ही उनका रूप है। जैसा कि आचाराग सूत्र की भाषा मे कहा है कि—

"सव्वे सरा णियट्ट ति, तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता, ओए अत्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने। से ण दीहे ण उस्से॥"

—आचाराग सूत्र ५–६ अन्तिम सूत्र।

जिसको कोई शब्द वर्णन नही कर सकते, जहा तर्क नही पहुँचती, और बुद्धि का भी जहा प्रवेश नही, वैसे कर्म-रहित विशुद्ध आत्मा सपूर्ण जगत् जीव के ज्ञाता, दृष्टा व साक्षी होते हे। कविवर विनयचन्द्र जी ने कहा है—

मन, बुद्ध, वाणी सरस्वती, पहुचे नही रे लिगार।
साखी लोका-लोकनो, निर्विकल्प निर्विकार ॥
अनन्त जिनेश्वर नित नमू।

गीताकार श्रीकृष्ण भी इसी भाव को शब्दान्तर से कहते है—

न तद् भासयते सूर्यो, न शशाको न पावक ।
यद् गत्वा न निवर्तते, तद्धाम परम मम ॥

कर्तृत्व के बावत भी गीता मे कहा है—

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्म-फल-सयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात् ईश्वर न लोक की रचना करता है और न कर्मो का ही सृजन करता है। कर्मफल का सयोग भी ईश्वर नही करता, केवल स्वभाव ही सब कुछ करता है।

पृथ्वी मे कठोरता, जल मे शीतलता, अग्नि मे प्रकाशकता और दाहकता, वायु मे कम्पन, वनस्पति मे हरितपन एव सरसता स्वभाव से है। काटो मे तीखापन, मोर की पखो मे रग-विरगापन और खद्योत की पखो मे चमकीलापन स्वभाव से ही है। कहा भी है—

"कण्टकेषु च तीक्ष्णत्वम्"।

जैन धर्म की दृष्टि से आत्मा ही सुख-दु ख या विविध

विचित्रताओ का कर्त्ता-धर्त्ता और भोक्ता माना गया है। उक्ति प्रसिद्ध है कि—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य"

—उ० २४

ससारी आत्मा कर्म का कर्त्ता-हर्ता है और शुद्ध आत्मा कूटस्थ द्रष्टा है। वह कर्म या जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता।

प्रश्न ४ क्या वैदिक परम्परा मे भी आत्मा के दो रूप माने गये हैं ?

उत्तर—वैदिक परम्परा मे भी आत्मा के इस प्रकार दो रूप माने गये है। जैसे कि गीता मे कहा है—

द्वाविमौ पुरुषो लोके, क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

गीता—अ० १५ गा० १६।

लोक मे ये दो प्रकार के पुरुष है एक क्षर और दूसरा अक्षर। ससार के सब जीवो को क्षर और कूटस्थ को अक्षर कहा गया है। फिर कहा है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माय मव्यय।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय, न करोति न लिप्यते ॥

गीता—अ० १३ गा० ३२।

अनादि और निर्गुण होने से यह परमात्मा अव्यय है, अत हे कौन्तेय! शरीर मे रहकर भी न यह करता है और न कर्म मे लिप्त ही होता है।

ससार के प्राणियो की तरह अक्षर पुरुष जन्म धारण नही

करता और न कोई शुभाशुभ कर्म ही करता है। अत उसे शुभा-शुभ का अकर्त्ता कूटस्थ कहा गया है। वैदिक परम्परा मे साख्य दर्शन ने स्पप्ट यह घोषणा की है कि "प्रकृति कर्त्री, पुरुपस्तु पुष्कर पलासवन्निर्लेप" प्रकृति जिसको माया भी कहते हैं, वही करने वाली है। पुरुष तो कमल-पत्र की तरह निर्लेप है, वह न किसी का भला करता और न बुरा, केवल बाल रुचि जीवो को प्रभावित करने के लिए ग्रन्थकारो ने आत्मा को ही ईश्वर के रूप से सर्वशक्तिमान् कर्त्ता समझाया है। वस्तुत परमात्मा अविकारी होने से अकर्त्ता है।

यह जो कहा जाता है कि विना चेतन-पुरुष की प्रेरणा और शक्ति के एक पत्ता भी नही हिल सकता यह क्षर पुरुष की अपेक्षा हो सकता है जो सब मे व्यापक है। निरजन निरा-कार परम-आत्मा रूप ईश्वर मात्र द्रष्टा है। राग द्वेष रहित होने से वे किसी का भला बुरा नही कर सकते, फिर पूर्ण एव कृतकृत्य होने से उनको कुछ करना शेष भी नही है। अत जैन शास्त्रो मे वीतराग, ईश्वर परमात्मा को ससार के शुभाशुभ का कर्त्ता नही माना जाता है।

प्रश्न ५. जब ईश्वर इस विशाल विश्व का कर्त्ता नही है तो उसके होने मे प्रमाण ही क्या है ?

उत्तर—सृष्टि कर्ता नही होकर भी पूर्ण होने से परमात्मा-ईश्वर स्वय सिद्ध है, जो इस प्रकार है —

ससार का नियम है कि गुण से गुणी का ज्ञान होता है, मिश्री, फिटकरी, और हीरा जैसे समान रूप वाले पदार्थ गुण से ही पहचाने जाते हैं। पीतल और सोने का निर्णय भी गुण से ही होता है। पहाड मे नही दिखने पर भी आवाज से मोर

प्रश्न ६ माना कि परमात्मा है, पर जब वे किसी को कुछ देते नहीं और भजने वाले पर प्रसाद और नही भजने वालो पर रोष नही करते तब फिर उनका भजन क्यो किया जाता, इससे क्या लाभ है ?

उत्तर—यह सही है कि भगवान् किसी को कुछ नही देते। भगवान् ही क्या, कोई भी किसी को कुछ नही देता। शरीर-धारी भी एक दूसरे के लिए मात्र निमित्त होता है। भगवान् देते नही फिर भी भगवान् के भजन-स्मरण से यह निश्चित है कि आत्मा लाभान्वित होता है। जैसे कमल वन और हरियाली को प्रतिदिन देखते रहने से नेत्र की ज्योति बढती और तरी मिलती है। वायु सेवन से आरोग्य लाभ होता है और सूर्य किरण से जीवन मिलता है। यहा कमल, वायु और सूर्य-किरण क्रिया नही करते। सहज अपने गुण-धर्म का प्रकाश करते है। फिर भी विधि से सेवन करने वाले लोग लाभ प्राप्त करते हैं और अविधि सेवन करने वाले हानि।

इसी प्रकार शुद्ध-बुद्ध परमात्मा भी किसी को कुछ नही देते हुए भी ध्यान करने वालो के शान्ति लाभ मे निमित्त होते हैं। स्मरण से होने वाले लाभ इस प्रकार है—

सर्वप्रथम तो भजन-स्मरण करने वाला जितने समय तक भजन करता है, उतने समय तक हिंसा असत्य कलह आदि दुष्कर्मो से बचा रहता है। वह निन्दा, झूठ और कलहकारी वचन नही बोलेगा, शरीर का भटकना भी नही होगा। मनोयोग मे कुछ काल शुभ-भावना रहेगी। इस प्रकार वाणी एव तन के शुभयोग से वह पुण्य लाभ करेगा। बाह्य कारणो से दिमाग हटने के कारण साधक तात्कालिक शान्ति भी प्राप्त करेगा। मन हल्का रहेगा-चिन्ता भूल जायगा। शुद्ध आदर्श

का लक्ष्य होने से जीवन मे कुछ सत्कर्म की प्रेरणा भी प्राप्त होगी। इस प्रकार जैन धर्म परमात्मा मे निमित्त रूप होने से व्यवहार मे औपचारिक कर्तृत्व मानता है। वस्तुत परमात्मा स्वय क्रियापूर्वक कर्त्ता, हर्त्ता नही है।

जैसे-डूबते समय कोई व्यक्ति तुम्बे को कमर मे लटका ले तो वह डूबने से बच जाता है। इसमे क्रिया डूबने वाले की है, इस कारण लोग तुम्बे को तारने वाला नही कहते। वैसे ही परमात्मा के स्मरण से शान्ति लाभ करने मे भी हमारी क्रिया ही मुख्य होती है। विना भक्ति या आराधना के स्वय वह प्रकाश नही आता। भक्ति के माध्यम से शान्ति या प्रकाश प्राप्त होता है। अत भक्ति निमित्त है। इसलिए शुद्ध दृष्टि से परमात्मा को अकर्त्ता ही माना गया है। वहुमान की दृष्टि सेव्यवहार मे लडका तरक्की करता है तो कहता है आपकी कृपा। माताजी की पुण्याई से सफल होगया, आदि। यहा कर्तृत्व अपना होते हुए भी वडो के आदर हेतु उनका पुण्य और उनकी कृपा का फल वताया जाता है। ऐसे ही अहकार का परिहास करने के लिये श्रद्धालु व्यक्ति कहते है कि भगवान् की दया-कृपा। अपना सवध हटा लेने से इस प्रकार व्यक्ति लाभ मे गर्व-हर्ष और हानि मे शोक-चिन्ता से मुक्त रहता है। इसलिए व्यवहार मे यह समझाया गया है कि जो भी कुछ अच्छाई मिलती है, भगवान् की कृपा का ही फल है। आदमी कुछ नही कर सकता,—पर वास्तव मे वात यह है कि भगवान् कुछ नही करते आत्मा ही उनको निमित्त लेकर सव कुछ करती है। परमात्मा हमारी पवित्र साधना मे निमित्त वनते है, यही महान् लाभ है। इसलिए व्यवहार मे "तित्थयरा मे पसीयतु" तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हो, जैसे प्रार्थना वचन कहे गये है।

प्रश्न ७ जैन धर्म नाम पूजा, व्यक्ति पूजा और वेश पूजा मे कहा तक निष्ठा रखता है, उसकी दृष्टि से गुण-शून्य नाम और वेष भी पूजनीय माना जाता है क्या? वन्दन पूजन का जैन धर्म मे आधार क्या है?

उत्तर—अन्य सम्प्रदायो के लोग अपनी सन्तानो के नाम इष्ट देव के नाम से रखते और नारायण या राम नाम से पुत्र को पुकारने पर भी पुण्य की प्राप्ति मानते है। उनकी श्रद्धा है कि पापी ने भी मरते समय पुत्र के हेतु मुह से नारायण नाम निकाला तो देवदूत उसको स्वर्ग मे ले गये। जैन धर्म ऐसी एकान्त नाम-पूजा नही मानता।

साधारण व्यक्ति वेप मे ही साधु और गृहस्थ आदि का भेद समझ पाते है। अत लोक मे लिग अर्थात् वेप का भी उपयोग है। फिर भी वेष के साथ यदि गुण नही है, व्यक्ति केवल वेषधारी है, श्रद्धा-भ्रष्ट या चरित्र का पतित है तो जैन धर्म उसको वन्दनीय नही मानता। शास्त्र मे जमालि और गोशालक को वेप की समानता होने पर भी वन्दनीय नही माना गया। ऐसे ही गुरु का उत्तराधिकारी होने या गुरु से दीक्षित होने मात्र से भी कोई पूजनीय नही होता क्योकि जैन धर्म व्यक्ति के व्यक्तित्व का मान करता है। जैन धर्म गुण-शून्य नाम या वेप को पूजनीय नही मानता।

वह पाट-पूजा, व्यक्ति–पूजा या गादी-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा को ही महत्व देता है। उसका स्पष्ट निर्घोष है कि—

"गुणा पूजा-स्थान, गुणिषु, न च लिग न च वय।"

गुणियो के गुण ही पूजा के कारण है, वेश या अवस्था

किन्तु जैन शास्त्र बतलाता है कि तीर्थंकर भी जब तक दीक्षा ग्रहण नही कर लेते साधु आदि उनको वन्दन नही करते क्योकि उनमे अभी चारित्र का गुण नही है।

कुछ लोग कहते हैं कि—भरतजी ने मरीचि को होने वाला तीर्थंकर जानकर वन्दन किया, ऐसा टीका मे आता है। ठीक है, यह बात कथा मे है पर शास्त्र मे नही होने से प्रमाण कोटि मे नही मानी जाती।

अंतगडदशा सूत्र मे श्रीकृष्ण को आगामी काल मे तीर्थंकर होना बतलाया तो श्री कृष्ण बडे प्रसन्न हुए, खुशी प्रगट करते हुए उन्होने ताल ठोके, पर वहा चतुर्विध सघ मे किसी ने भावी-तीर्थंकर समझ कर वन्दन किया हो ऐसा कोई लेख नही आता।

यदि कहा जाय कि तीर्थंकर को जन्म काल से ही देव-वन्दन करते है तो फिर द्रव्य अवन्दनीय कैसे ? पर बात यह है कि देव स्वय अविरति है, अत तीर्थंकर के गुरा सहज ही उनसे अधिक हैं, काररण तीर्थंकर क्षायिक सम्यग् दृष्टि और चरम शरीरी होने से गुरण मे भी देव से बडे है। अत द्रव्य की नही यहा भी भाव की ही वन्दना है।

देव के बदले कोई साधु साध्वी उनको वन्दन करते तो द्रव्य वन्दनीय कहा जाता पर वैसा नही है। इसलिए गुरण सम्पन्न द्रव्य-शरीर को ही वन्दनीय मानना चाहिये।

आचार्य हरिभद्र ने वन्दनीय अवदनीय का विचार करते हुए कहा है कि—जेसे मुद्रा मे धातु और मोहर दो चीजे हैं, दोनो मे से एक भी कम हो तो पूरे दाम नही मिलते, वैसे ही वन्दनीय मे गुरण एव वेष इन दोनो मे से एक भी कम हो तो व्यवहार मे वन्दना प्राप्त नही होती। अत भाव सहित नाम और वेष ही पूज्य माने गये है।

जैन धर्म की इस गुरण निष्ठा के काररण ही आज समाज मे यति-वर्ग की पूजा समाप्त हो गई और वेश की समानता होने पर भी आचार के अभाव मे वे साधु से हल्के माने जा रहे है।

जैन सूत्र मे नाम का महत्त्व बतलाते हुए जो तथारूप शब्द का प्रयोग किया है, वह स्पष्ट ही नाम के साथ गुणो की अनिवार्यता प्रगट करता है, देखिये—

"त महाप्फल खलु भो देवाणुप्पिया।"

"तहारूवाण अरिहताण भगवन्ताण नाम-गोयस्स वि सवणयाए।" उव० समवसरणाधिकार।

अर्थात्-तथारूप-गुण-युक्त अरिहन्त भगवान के नाम-

गोत्र का स्मरण भी महान् लाभ का कारण है ।

आचार्य सोमचन्द्र ने कहा है—

अवद्य मुक्ते पथिय पवर्तते,
प्रवर्तयत्यन्य जन च निरपृह ।
ससेवितव्य स्वहितैपिणा गुरु,
स्वयतर स्तारयितु क्षम परम्।

जो पाप-रहित मार्ग पर चलते और निस्पृह भाव से अन्य को भी सुमार्ग मे लगाते, आत्महितैपियो को वैसे ही गुरु की सेवा करनी चाहिये । जो स्वय तिरते हुए दूसरो को तारने मे समर्थ है ।

व्यवहार मे वदना के लिये वेप की आवश्यकता मानकर भी निश्चय से गुण को ही प्रधानता दी गई हे । अन्यतीर्थ या अतीर्थ के रूप मे कभी सयम के अनुकूल वेप नही होने पर भी यदि चरित्र का गुण है तो उसे भी 'नमो लोए सव्व साहूण' पद से भाव नमस्कार हो जाता है पर व्यवहार मे तो वेप भी आवश्यक है ।

देव पद मे भी जैन धर्म को नाम या व्यक्ति का मोह नही है । जैन धर्म वीतराग-भाव के गुणो का पूजक है । राम हो या महावीर, बुद्ध हो अथवा कृष्ण जो राग द्वेष-रहित वीतराग और शुद्ध बुद्ध है—वह किसी भी नाम का हो वन्दनीय है । जमालि साधु के वेष मे होकर भी वन्दनीय नही रहा । आचार्यो ने स्पष्ट कहा है कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद्द वचन यस्य, तस्य कार्य परिगृह ॥

मेरा महावीर मे पक्षपात नही है और कपिलादि मे द्वेष

धर्म की दीक्षा दी, तो उस समग्र मूल वर्ग के अभक्ष्य खान पान का परित्याग करने से उनकी एक जाति बन गई। जब तक पचायत व्यवस्था सुचारु ढग से चलती रही, जातीय व्यवस्था, सुरक्षा व सेवा का भी प्रबन्ध चलता रहा, पचो के साथ भी श्री पूज्यो का भी वर्चस्व था इसलिए उनकी व्यवस्था उत्तम ढग से होती रही। जब पचायतो मे पक्षपात और यति वर्ग मे स्वार्थ एव लोभ की वृत्ति जोर पकडने लगी तो उनका शनै शनै सामाजिक प्रभाव भी समाप्त हो गया। अब एक मात्र सघ व्यवस्था रही, आज उसी मे मूर्ति-पूजक समाज और स्थानक-वासी समाज के रूप से मिश्रित व्यवस्था चल रही है।

वास्तव मे धर्म और जातिया अलग अलग है। जब से सघ मे धर्म की दृष्टि को गौण करके जातीय भावना को मुख्यता देकर काम किया जाने लगा, धर्म का क्षेत्र सीमित हो गया। और सघ-सभा मे जातीय कलह पनपने लगे, अच्छा हो यदि सघ को जातीय उलझनो से मुक्त रखा जाय और उसके द्वारा केवल श्रुत चारित्र धर्म का प्रचार प्रसार एव समर्थ बन्धुओ के सरक्षण एव सगोपन तक की ही व्यवस्था रक्खी जावे।

प्रश्न १० जैन धर्म के अनुसार जीव की जातिया कितनी हैं?

उत्तर—मूल मे शास्त्र की दृष्टि से जीव की पाच जातिया कही गई हैं—१ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय और ५ पचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय कहने से एक इन्द्रिय वाले अनन्त जीवो का बोध होता है, ऐसे द्वीन्द्रिय आदि से भी उन २ समूहो का बोध होता है अत ये जातिया है।

भी नही है। नाम की तरह जैन धर्म में वेषपूजा को भी स्थान नही है।

अत: 'नोग गुणेहि साहू, अगुणे हि-साहू" इस शास्त्र वचन के अनुसार यदि साधुता का मूलाधार गुण समझले तो समाज का सहज कल्याण हो सकता है। साम्प्रदायिक संघर्ष का मूल भी सदा के लिये टल सकता है।

प्रश्न ६ ससार मे विभिन्न धर्म और जातिया जो अलग अलग दृष्टिगोचर होती है कृपया समझाने की कृपा करें, कि धर्म और जाति एक है या अलग अलग हैं ?

उत्तर—धर्म और जाति भिन्न-भिन्न है। जीवन सुधार के उच्च-आचार और पवित्र विचार ही वास्तव मे धर्म नाम से कहे जाते है। व्यवहार मे उपासना मार्ग के विविध क्रिया-काडो और विश्वास को भी धर्म या सप्रदाय कहते है। समान रीति-रिवाज और सस्कार वाले मानव-मडल को जाति कह सकते हैं।

जाति और धर्म मे यह अन्तर है कि जाति जन्म से प्राप्त होती है और मरण तक रहती है, जबकि धर्म, सस्कार एव सत्सग से मिलता है और रगभेद, मनोभेद या वाह्य प्रभाव से प्रभावित होने पर वह छूट बदल भी जाता है। जाति की तरह धर्म का जीवनकाल मे नियमपूर्वक स्थायित्व नही होता।

एक जाति मे विभिन्न धर्म और एक धर्म मे विभिन्न जातिया हो सकती है। जैनाचार्यों ने जाति की अपेक्षा धर्म को ही अधिक महत्त्व दिया है इसलिए वहा सघ-निर्माण की ओर जितना लक्ष्य दिया गया है, जाति निर्माण की ओर उतना लक्ष्य नही दिया।

ओसवाल बनाते समय भी आचार्यो ने क्षत्रिय आदि विभिन्न कुलो को मद्य-मास और हिसा का त्याग कराके जैन-

धर्म की दीक्षा दी, तो उस समय मूल वश के अभक्ष्य खान पान का परित्याग करने से उनकी एक जाति बन गई। जब तक पचायत व्यवस्था सुचारु ढग से चलती रही, जातीय व्यवस्था, सुरक्षा व सेवा का भी प्रबन्ध चलता रहा, पचो के साथ भी श्री पूज्यो का भी वर्चस्व था, इसलिए उनकी व्यवस्था उत्तम ढग से होती रही। जब पचायतो मे पक्षपात और यति वर्ग मे स्वार्थ एव लोभ की वृत्ति जोर पकडने लगी तो उनका शनै शनै सामाजिक प्रभाव भी समाप्त हो गया। अब एक मात्र सघ व्यवस्था रही, आज उसी मे मूर्ति-पूजक समाज और स्थानक-वासी समाज के रूप से मिश्रित व्यवस्था चल रही है।

वास्तव मे धर्म और जातिया अलग अलग है। जब मे सघ मे धर्म की दृष्टि को गौण करके जातीय भावना को मुख्यता देकर काम किया जाने लगा, धर्म का क्षेत्र सीमित हो गया। और सघ-सभा मे जातीय कलह पनपने लगे, अच्छा हो यदि सघ को जातीय उलझनो से मुक्त रखा जाय और उसके द्वारा केवल श्रुत चारित्र धर्म का प्रचार प्रसार एव समर्थ बन्धुओ के सरक्षण एव सगोपन तक की ही व्यवस्था रक्खी जावे।

प्रश्न १० जैन धर्म के अनुसार जीव की जातिया कितनी हैं ?

उत्तर—मूल मे शास्त्र की दृष्टि से जीव की पाच जातिया कही गई हैं—१ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय और ५ पचेन्द्रिय। एकेन्द्रिय कहने से एक इन्द्रिय वाले अनन्त जीवो का बोध होता है, ऐसे द्वीन्द्रिय आदि से भी उन २ समूहो का बोध होता है अत ये जातिया है।

विशेष प्रकार की दृष्टि से इनमे पशु जाति, पक्षी जाति, जलचर जाति और मनुष्य जाति आदि अनेको उपभेद हैं। मनुष्य मे कर्म भूमिज भोग भूमिज और सम्मूर्च्छज ऐसे मुख्य तीन प्रकार है। कर्म-भूमि मे आर्य और अनार्य ये दो मूल जातिया हैं।

प्रश्न ११ मनुष्य समाज मे जाति की उत्पत्ति और विस्तार कब से हुआ ? आरम्भ मे मूल जातिया कितनी थीं ?

उत्तर—कर्म-भूमि के आदि काल मे मनुष्य की एक ही युगलिक जाति थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र आदि भेद नही थे। ऋषभदेव स्वामी ने जब असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्म की शिक्षा दी तब क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति की स्थापना हुई। फिर भरत द्वारा सम्मानित व्रती गृहस्थ श्रावक—ब्राह्मण कहे जाने लगे। एक से चार और चार से आज चार हजार जातिया हो गई।

आचाराग की निर्युक्ति—

'एक्का मणुस्स जाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे। तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मन्सि चत्तारि। यावन्ना भेयो भगवान्नाद्यापि राजलक्ष्मी-मध्यास्ते तावदेकैव मनुष्य-जाति तस्यैव राज्योत्पत्तौ भगवन्त मेवाश्रित्य ये स्थितास्ते क्षत्रिया शेषाश्च शोचनाद्रोदनाच्च शूद्रा पुनरग्न्युत्पत्तौ-अयस्कारादि शिल्प-वाणिज्य-वृत्या-वेशनाद् वैश्या, भगवतो ज्ञानोत्पत्तौ भरत-काकणी लाछनात् श्रावका एव ब्राह्मणा जज्ञिरे एत्ते शुद्धा।'

—आचा० टी०।

जब तक इनमे एक दूसरे को ऊच्च-नीच समझने की भावना उत्पन्न नही हुई, तब तक वर्ग सघर्ष नही हुआ। क्षत्रिय का वैश्य-पुत्री से भी सम्बन्ध हो जाता। कृष्ण ने गजसुकुमाल के लिये सोमल ब्राह्मण की पुत्री को अन्त पुर मे रक्खा, श्रेणिक ने वैश्य पुत्री नन्दा से व्याह किया और कयवन्ना के साथ अपनी कन्याओ का भी सम्बन्ध किया। पर सामाजिक व्यवस्था और योग्यता को भूल कर जब ऐच्छिक सम्बन्ध बढने लगे तो विक्रम काल से पर-जातीय सम्बन्ध को निषिद्ध घोषित कर दिया गया।

वास्तव मे कोई जाति बुरी नही परन्तु उसका वाद बुरा है। हम ऊचे व दूसरी जाति वाले नीचे यह समझना ही सघर्ष का कारण है। ऊच नीच की भावना से अहकार और तिरस्कार भाव उत्पन्न होते है, फल-स्वरूप जाति-जाति मे सघर्ष बढने लगे। भगवान महावीर ने कहा—कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय और कर्म से ही वैश्या तथा शूद्र होता है। जो उच्च जाति मे जन्म कर अहम् भाव करता और हीन कर्म करता है, वह नीच गोत्र का बध करता है। वास्तव मे अभक्ष्य भक्षण, अगम्य गमन, अपेय पान और हिसा व्यभिचार आदि नीच कर्म से ही मनुष्य नीच कहलाता है।

प्रश्न १२. आजकल धार्मिक क्षेत्र मे विभिन्न सम्प्रदायें हैं, जो विश्व मे सघर्ष की कारण बनी हुई है। विद्वानो के भाषणो मे एक ओर सम्प्रदाय त्याग की बात की जाती है और दूसरी ओर कहा जाता है कि सप्रदाय बुरा नहीं है, सप्रदाय-वाद बुरा है तो सही स्थिति क्या है? बताने की कृपा करें।

उत्तर—पहले समझना चाहिये कि सप्रदाय क्या है? एक प्रकार के सैद्धान्तिक विचार या उपासना मार्ग पर चलने

वाले सगठन को सप्रदाय या आम्नाय कहते हैं। साधको की साधना शिथिल न हो और उनका एक व्यवस्थित सगठन रहे, इस विचार से सप्रदाय की स्थापना की गई। व्यवस्था और प्रचार की सुलभता की दृष्टि से सप्रदाये आवश्यक है। विभक्त व्यवस्था मे जन समूह को अनायास अनैतिकता से बचाया जा सकता है और सप्रदायो मे परस्पर धर्म-प्रचार की स्पर्धा भी रहती है परन्तु जब सम्प्रदाय मे अहकार और दुराग्रह का वाद प्रवेश कर जाता है, अपने अच्छे को अच्छा कहने के बदले जब वह दूसरे के अच्छे को भी बुरा कहने लगता है तो सघर्ष का कारण होकर सप्रदाये खटकने लायक हो जाती है। सप्रदाय-वाद मे मानव स्वमत को ही उत्तम मानकर परमत को हीन कहता है और सत्य का आदर करने की अपेक्षा अपना सो ठीक मानने का आग्रही हो जाता है। यह सप्रदायवाद ही बुरा है। वाद को छोडकर यदि एक दूसरे मे अच्छाई ग्रहण की भावना रक्खी जाय तो सप्रदाये हितकर बन सकती है। मूल मे सप्रदाय बुरी नही है।

सप्रदाय त्याग की बात करने वालो को भी सप्रदायो का परित्याग कर नया सगठन बनाना होता है। इससे सप्रदाय का प्रेम और अनुशासन भग कर नया रूप देने की अपेक्षा सप्रदाय को ही बुराइया निकालकर शुद्ध क्यो नही किया जाय। नाक की पीडा से बचने के लिए फोडे की सफाई करने के बदले नाक को ही काट फेंक देना कोई बुद्धिमानी नही कहलाती। सप्रदायो मे पारस्परिक सहिष्णुता और सहयोग की स्थिति निर्मित की जाय तो सप्रदाये देश और समाज के लिए वरदान रूप हो सकती हैं। हर सप्रदाय पडोसी सप्रदाय से तुलनाकर अपनी दुर्बलता दूर करे और विशिष्टता को फैलावे तो ससार मे सघर्ष का कारण ही नही रह पाएगा।

जैसे एक न्यायाधीश दोनो पक्ष के वकील, बैरिस्टर गवाह सबूत एव उक्तियो को सुनकर भी अपनी बुद्धि से ही निर्णय करता है, वैसे ही आप भी सबके विचारो को सुन कर अपनी प्रेक्षा बुद्धि से विचार कर स्वय निर्णय कीजिये कि वस्तुत आत्मिक गुणों को प्रकट करने की एव राग, द्वेष और मोहादि घटाने की भावना किस साधना से जागृत होती है ? जो इस कसौटी पर सर्वथा सही उतरे, उसे ही सर्वश्रेष्ठ धर्म मानना चाहिये।

भगवान् महावीर ने कहा—जिसको सुनकर अहिंसा, क्षमा और तपस्यादि की भावना जागृत हो वही सर्वश्रेष्ठ और कल्याणकारी है। हर धर्म मे थोडा वहुत आत्मपोषण का तत्त्व मिल सकता है। जैसे गेहूँ, वाजारा, जौ, ज्वार, चावल आदि धान्यो मे पौष्टिक तत्त्व मिलता है परन्तु इन सब मे भी सर्वाधिक पौष्टिक तत्त्व प्राप्त हो उसे ही आप पसन्द

करेगे। इसी तरह जो मन विश्व मैत्री, अहिंसा, सयम, तप आदि उत्कृष्ट भावो को जागृत करने वाला हो, जिसके सिद्धात मे किसी का पीडन और तिरस्कार न हो, जो मनुष्य जाति मे भेद की दीवार न खीचता हो, जो विश्व के जीवो मे आत्मवत् भाव रखता हो, जो धर्म, अर्थ या काम हेतु कही किसी भी तरह हिंसा की जाय उसको हिंसा मानकर, उसका बहिष्कार करता हो, वस्तुत वही कल्याणकारी सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

उपरोक्त लक्षणो से परीक्षा करने के पश्चात् धर्म सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुए बिना नही रहेगा। हर धान्य मे न्यूनाधिक भूख मिटाने की शक्ति होती है, वैसे सभी धर्मो का कुछ न कुछ अश पुण्य बढाकर आत्मा को स्वर्ग आदि सुगति का अधिकारी बना सकता है किन्तु सपूर्ण दु खो मे मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य वीतराग मार्ग—जैन धर्म मे ही मिल सकता हे अत वही मुक्ति कामी जनो के लिये उपादेय—आदरपूर्वक ग्रहण करने योग्य है। उत्तम खाद्य पदार्थ के मिलने पर कोई तुच्छ खाद्य को खाना पसन्द नही करता, उत्तम, देशी गेहूँ मिलने की स्थिति मे कोई मक्का या विदेशी खाद्य करण नही खाता, वैसे ही धर्म के लिये समझना चाहिये।

भगवान् महावीर ने कहा है कि जो धर्म जीव मात्र को आत्मवत् समझने की शिक्षा देता, बिना किसी भेदभाव के प्राणी मात्र का कल्याण चाहता, और गुण पूजा को महत्त्व देता है तथा भोग के साथ कषाय भाव का त्याग कर, आत्मा को निर्मल बनाने की शिक्षा देता है वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। किसी भी जीव को नही मारना, बलात्कार नहीं करना, पीडा नही पहुँचाना, अनिच्छा से किसी की कोई भी वस्तु नही लेना, यह जैन-धर्म का सिद्धान्त है अत यही धर्म है। वैदिक ऋषियो ने

भी कहा है—'श्रूयता धर्म सर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।' धर्म का सर्वस्व यही है कि अपने लिये प्रतिकूल लगने वाले व्यवहार दूसरो के साथ नही करना, पर वहा धर्म के नाम पर यज्ञ-याग की हिसा होती है । जिस सम्प्रदाय मे आप अहिसा का जीवन क्षेत्र मे अधिक अवतरण देखे, उसी को विशेष महत्त्वपूर्ण माने । द्वेष या तिरस्कार किसी के साथ नही करे, क्योकि घृणा पाप से की जाती है, पापी से नही । पाप कभी भी पुण्य मे परिवर्तित नही हो सकता किन्तु आज का पापी कल तपश्चर्या से पुण्यात्मा बन सकता है । और धर्मी भी बन सकता है । जैन धर्म मूलत राग-द्वेषादि विकारो को नष्ट करने का प्रचार करता और तदनुकूल आचरण से सिद्धि मानता—यहा धर्म-प्रचार के नाम से भी हिसा का समर्थन नही है ।

प्रश्न १४ जो वस्तु जिस समय जहा, जिस रूप मे परिणित होने योग्य है, वस्तु की वे सब पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं। पुरुषार्थ उसमे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं करता, इस प्रकार की विचारधारा आज अधिक फैल रही है, यह कहां तक सही है ? कुछ समझाने की कृपा करें ?

उत्तर—जिन शासन मे मुख्य रूप से द्रव्य-नय और पर्याय-नय दो नय है । द्रव्य से हर पदार्थ नियमित एव स्थिर है और पर्याय-नय से पदार्थ प्रति समय परिवर्तनशील होने से अनियमित है । अत जिन शासन को एकान्त नियतवादी या एकान्त अनियतवादी न मानकर नियतानियतवादी कहा गया है । द्रव्य, क्षेत्र और काल के सयोगानुसार क्रियापूर्वक प्रत्येक पर्यायें परिवर्तित होती है, त्रिकालज्ञानी, सर्वज्ञ, विभिन्न क्षेत्र और विभिन्न काल मे बदलने वाली पर्यायो को पहले से जानते

है कि कहाँ किस क्रिया से कैसी पर्याय होगी। पर्यायो का नियामक क्रिया मूलक सयोग है न कि सर्वज्ञो का ज्ञान। इसलिये केवलज्ञान द्वारा ज्ञात होने पर भी पर्याये अनियत कही गई है। कोयले की पर्याय से हीरा भी हो सकता है और भस्म भी। जिस समय जैसा सयोग मिला उसकी वैसी ही पर्याये बदल गई। त्रिकालज्ञ होने से सर्वज्ञ इस बात को जानते है कि किसके पीछे कैसी क्रिया होने वाली है। अतएव यह समझना कि जड चेतन की विविध पर्याये नियत होने से विना पुरुषार्थ सहज होती है, भूल है। जीव कभी अजीव नही होता और अजीव—जीव नही बनता यह नियत है। ऐसे नर-नारकादि पर्याय नियत नही है। मनुष्य मर के मनुष्य भी हो सकता है और नारक या देव भी, पर इसका कोई नियत क्रम नही। जीव के आरोह-अवरोह का भी कोई नियत क्रम नही है। इसीलिये भगवान् महावीर की धर्म-प्रवृत्ति, उत्थान, कर्म, बलवीर्य और पुरुषाकार वाली मानी गई है। उपासक दशाग कहा है—"समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्म पण्णत्ती-अत्थि उट्ठाणेइवा जाव अणियया सव्वभावा ॥५॥" अर्थात् महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति मे उत्थान यावत् पुरुषकार है। क्योकि सब भाव अनियत है। इससे यही प्रमाणित होता है कि क्रमबद्ध नियत पर्याय मानना शास्त्रानुसार उचित नही है।

प्रश्न १५ कुछ लोग कहा करते है कि साधु को पडिलेहण करना, कपडे अधिक उजले नहीं रखना, नित्य प्रति एक घर से भिक्षा नहीं लेना आदि बाह्य क्रिया काण्डो मे उलझने की अपेक्षा कषायो को जीतना चाहिये। बाह्य क्रिया काण्ड तो अज्ञानी भी करता है। पर उनसे क्या लाभ ? ससार का अन्त तो मन को शुद्ध करने से ही होगा। बाह्य क्रिया काण्ड तो

मात्र दिखावा ढकोसला है। क्या इस प्रकार के विचार ठीक हैं?

उत्तर—बाह्य क्रिया काण्डो की अपेक्षा कषायो को जीतना अधिक महत्त्वपूर्ण है इसमे कोई विरोध नही। किन्तु इससे बाह्य क्रियाओ की निरुपयोगिता सिद्ध करना ठीक नही। कषाय विजय की इच्छा वाले साधक को तामसी भोजन, दुष्ट सग और दिमाग को गलत विचारो से बचाये रखने का अभ्यास करना आवश्यक होगा। सात्विक आहार, ज्ञानवान सज्जनो की सगति और शुभ कार्यो मे जुडा रहना, कषाय विजय के अपेक्षित साधन है। अत साधन रूप से बाह्य क्रिया भी आवश्यक है।

अर्जुन माली जैसा तीव्र कषायी भगवान् की देशना का निमित्त पाकर तप, त्याग की भावना मे कषायो को जीतकर वीतराग भाव की साधना करने लगा फिर भी सत्सग और वेले-वेले की तपस्या का व्यवहार उसे भी करना पडा।

जैन शास्त्र एकान्त व्यवहार या एकान्त निश्चय का कथन नही करता, वह अपेक्षावादी-अनेकान्तवादी है। जिन शासनो मे व्यवहार और निश्चय दोनो से कार्य की सिद्धि मानी गई है। निश्चय के साध्य तक पहुँचने मे व्यवहार साधन है, ज्ञान मिलाने को शिक्षक के पास जाना पडता है। समुद्र पार करने मे नाव का आश्रय लेना होता है और रोग मिटाने के लिये दवा भी खानी पडती है। दवा खाने के पूर्व रोग का परीक्षण भी कराया जाता है, ये सब व्यवहार है। पर कार्य सिद्धि मे आवश्यक साधना मानकर किया जाता है। वैसे ही कषाय विजय के लिये, बाह्य क्रियाओ की भी आवश्यकता है। चलने मे जैसे दोनो पैर हिलाये जाते है और दही मन्थन मे

दोनो हाथ आगे पीछे रख कर डोरी खीची जाती है। मन्थन के समय एक हाथ ढीला और दूसरा कडा रखने पर ही मक्खन प्राप्त होता है। दोनो हाथ छोडने से या खीचने से काम नही होता, वैसे ही कल्याणाकांक्षी जन को भी व्यवहार और निश्चय दोनो की आवश्यकता होती है। व्यवहार के पीछे निश्चय को भूल जाना या उसकी उपेक्षा करना भयकर भूल है। वैसे निश्चय के आग्रह मे व्यवहार का तिरस्कार करना भी, सत्य का अपलाप करना और अपने आपको धोखा देना है। कारण सामान्य साधक व्यवहार के द्वारा ही निश्चय की ओर बढता है। केवली का व्यवहार निश्चयानुसार होता है जबकि छद्मस्थ अपूर्ण ज्ञानी होने से बिना व्यवहार के निश्चय को नही समझ पाता और न आचरण मे ही ला सकता है। साधना की स्थिति मे व्यवहार को त्याज्य नही किन्तु उपादेय मानना चाहिये, यही शास्त्र का मर्म है।

प्रश्न १६ जैन धर्म मे श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप के भेद कबसे है, और दोनो मे परस्पर किन मान्यताओ मे क्या-क्या अन्तर हैं ?

उत्तर—जैन-धर्म वास्तव मे न श्वेताम्बर है न दिगम्बर। वह तो सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र पूर्वक अतर के विकारो को जीतने मे है। साधको की शारीरिक, मानसिक स्थिति और योग्यता के अनुसार कोई श्वेतवस्त्रधारी हो या कोई सर्वथा वस्त्र त्यागी हो, मुक्ति मार्ग मे कोई आपत्ति नही आती। लोक मे व्यवहार के लिये ही बाह्य लिग बताया गया है, उसके अनुसार वेष मे मुख वस्त्रिका और रजोहरण तो सब के लिये आवश्यक कहा गया है।

महावीर के समय मे वस्त्रधारी और वस्त्रत्यागी दोनो प्रकार के साधु होते थे। इनमे वस्त्रधारी-स्थविरकल्पी और दूसरे जिनकल्पी कहलाते। महावीर के द्वितीय पट्टधर श्री जम्बूस्वामी तक यह स्थिति चलती रही। बाद मे जिनकल्प नही रहा।

वि० स० ६०९ मे रथवीरपुर नगर मे यह मतभेद स्थूल रूप से प्रकट हुआ। भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के मतानुसार आचार्य कृष्णचन्द्र के शिष्य शिवभूति से दिगम्बर मत की उत्पत्ति हुई। रथवीरपुर के पुरोहित पुत्र शिवभूति—जिसको सहस्त्रमल भी कहते हैं, घर से विरक्त हो आचार्य कृष्ण के पास दीक्षित हो गये। कुछ काल के बाद जब आचार्य रथवीरपुर मे पधारे तो राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य रत्न कंबल भेंट किया। आचार्य को ज्ञात होने पर उन्होने कहा—ऐसा बहुमूल्य वस्त्र अपने को नही रखना चाहिये, परन्तु मुनि को यह मान्य नही हुआ। उसने कपडो मे लपेटकर उसको बडी हिफाजत से रक्खा। शिवभूति की कम्बलरत्न पर मूर्छा आसक्ति देखकर आचार्य ने एक दिन जब मुनि बाहर गया हुआ था—कम्बल रत्न के खड-खड करके साधुओ मे बाट दिये, शिवभूति मुनि को यह जानकर बडा रोष हुआ।

एक दिन गुरुदेव जिनकल्प का वर्णन कर रहे थे, करपात्री और पात्रधारी, सवस्त्र और अवस्त्र ऐसे उन्होने जिनकल्प के दो विकल्प किये। तब शिवभूति ने कहा—बस यही सच्चा मार्ग है, इतने उपकरण की ढेरी किसलिये ? यह तो परिग्रह है।

शिवभूति ने वस्त्र त्याग कर दिगम्बर रूप अगीकार

किया। और तब मे वस्त्रधारी मुनिओं को मानने वाली समाज श्वेताम्वर तथा नग्नमुनिओं को मानने वाली दिगम्वर कही जाने लगी।

श्वेताम्बर और दिगम्वर के मूल सिद्धान्तो मे भेद नही है—

१ श्वेताम्वर भी २४ तीर्थंकर मानते है और दिगम्वर भी।

२ नमस्कार मत्र मे पच परमेष्ठि का वदन श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो मानते ह।

३ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र रूप मोक्ष मार्ग श्वेताम्वर भी मानते हे और दिगम्बर भी।

४ साधु के लिये सपूर्ण आरभ हिसा और परिग्रह का त्याग दोनो मानते है।

देव, गुरु के स्वरूप और आचार मे वहुत कुछ समानता होने पर भी चद बातो के भेद से सप्रदाय भेद चल रहा है। जैसे—

१ श्वेताम्वर साधु भिक्षा से आहार लेते, तब दिगम्वर मुनि अभिग्रह के अनुसार एक ही जगह खडे-खडे भोजन करते है। आहार मे शोध की वस्तु और जैन कुल ही ग्राह्य माना जाता है, श्वेताम्वर मर्यादाशील अन्य कुलो मे भी भिक्षा लेते है।

२ श्वेताम्वर केवली को कवलाहार भी मानते है, पर दिगम्वर केवलियो के लिये कवलाहार नही मानते है, रोमाहार मानते है।

किया। और तब से वस्त्रधारी मुनियो को मानने वाली समाज श्वेताम्बर तथा नग्नमुनिओ को मानने वाली दिगम्बर कही जाने लगी।

श्वेताम्बर और दिगम्बर के मूल सिद्धान्तो मे भेद नही है—

१ श्वेताम्बर भी २४ तीर्थकर मानते है और दिगम्बर भी।

२ नमस्कार मत्र मे पच परमेष्ठि का वदन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो मानते है।

३ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र रूप मोक्ष मार्ग श्वेताम्बर भी मानते है और दिगम्बर भी।

४ साधु के लिये सपूर्ण आरभ हिसा और परिग्रह का त्याग दोनो मानते है।

देव, गुरु के स्वरूप और आचार मे बहुत कुछ समानता होने पर भी चद बातो के भेद से सप्रदाय भेद चल रहा है। जैसे—

१ श्वेताम्बर साधु भिक्षा से आहार लेते, तब दिगम्बर मुनि अभिग्रह के अनुसार एक ही जगह खडे-खडे भोजन करते है। आहार मे शोध की वस्तु और जैन कुल ही ग्राह्य माना जाता है, श्वेताम्बर मर्यादाशील अन्य कुलो मे भी भिक्षा लेते है।

२ श्वेताम्बर केवली को कवलाहार भी मानते है, पर दिगम्बर केवलियो के लिये कवलाहार नही मानते है, रोमाहार मानते है।

फिर सूत्र रचना का उल्लेख करते हुए भाष्यकार जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यक मे कहा है कि-अत्थभासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण। सासणस्स हियट्ठाए, ततो सुत्त पवत्तइ।

अर्थात् अरिहन्त भगवान् अर्थ कथन करते और गणधर निपुणता से सूत्र का ग्रथन करते है, फिर शासन हित के लिये सूत्र का प्रवर्तन होता है। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् का बोलकर उपदेश देना प्रमाण सिद्ध है।

प्रश्न १८. आज का युग वैज्ञानिक युग है। आज आधुनिक साधनो का उपयोग करके जैसे उद्योग, व्यवसाय और प्रचार मे सफलता मिलाई जाती है ऐसे धर्मकरणी मे भी इसका उपयोग लिया जाय तो थोडे समय मे अधिक धर्म प्रचार का काम हो सकता है।

द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृप सब जीवो की अपनी भाषा रूप मे हित-सुख रूप से परिणत होती है।"

उववाई सूत्र मे समवसरण का वर्णन करते प्रभु की देशना के परिचय मे कहा है—"देव और मानवो की विशाल परिषद् मे ओघबल और अतिबल वाले प्रभु ने सारद मेघ के समान गभीर ध्वनि से धर्म फरमाया। उनकी वाणी उर मे विस्तार-युक्त और कठ मे वृत्त और शिरोभाग मे व्याप्त थी। प्रभु ने मन्मनरहित स्पष्टोच्चारण वाली और सर्वाक्षर सन्निपातिनी भाषा मे उपदेश दिया।"

फिर प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम सवर द्वार मे कहा है —

"सम्पूर्ण जगत् के जीवो की रक्षा व दया हेतु भगवान् ने सम्यक् रूप से प्रवचन कहा है।"

यदि भगवान् की वाणी केवल ध्वनि रूप ही प्रमाणित होती तो भगवती सूत्र मे गौतम, सोमिल, रोहा और खदक आदि के जो प्रश्नोत्तर चले है, वे कैसे सिद्ध होगे। वहा किसी देव का माध्यम बन कर कहने का उल्लेख नही मिलता। दूसरी बात भगवान् को केवलज्ञान हो जाने पर भी मन-वचन-काय के योग रहते है, जैसे काय योग से ग्रामानुग्राम विहार करते, चलते-फिरते वैसे वचन योग से सत्य और व्यवहार भाषा बोलते है।

भगवती सूत्र के १८वे शतक और ७वे उद्देश मे कहा है कि केवली भगवान् निरवद्य और अपरोपघाती दो भाषा बोलते है जैसे सत्य अथवा असत्यामृष-व्यवहार।

सकता है, और यह भी ठीक है कि विशेप प्रसगो पर सामूहिक धर्माराधन मे यह समस्या उपस्थित हो सकती है कि सब को एक सा लाभ कैसे दिया जाय, फिर गर्मी का परिपह भी हो सकता हे किन्तु सच्चे श्रद्धालु सहूलियत या रुचि को महत्त्व नही देते, उनका प्रमुख दृष्टिकोण होता है—व्रतो की निर्दोपिता कैसे रहे। यो तो श्रावक गृहस्थ है, उद्योग-धन्धो मे उसके द्वारा हिंसा भी होती है, धर्मस्थान आदि सामाजिक आवश्यकताओ के लिये वह आरभ भी करता है, उसी तरह विना व्रत के कभी देश विदेश मे वैज्ञानिक साधन का उपयोग कर धर्म प्रचार करना पडे तो श्रावक के लिये त्याग नही है, ऐसा करने से उसके श्रावकाचार मे कोई वाधा नही आती। किन्तु सामायिक या पौषध मे जवकि दो करण तीन योग से वह पाप का त्याग करके वैठा है तव ऐसे आरभवर्द्धक साधनो का उपयोग नही कर सकता। जहा दीपक या बिजली के प्रकाश मे धर्म की पुस्तक पढना भी निपिद्ध समझा जाता है वहा पौषधादि व्रत मे कोई ध्वनियत्र मे प्रतिक्रमणादि कैसे वोल सकता है? क्योकि विजली तो दीपक से भी अधिक आरभी है। प्रतिक्रमण मे आत्म चिंतन करना है, उस के लिये व्यक्तिगत चिंतन जितना लाभकारी होता है उतना सामूहिक श्रवण लाभदायी नही होता। जिनको प्रतिक्रमण का अभ्यास नही है उनको भले ही चिंतन के लिये श्रवण करना पडे किन्तु जिनको पाठ आते है अथवा जो स्वय चिंतनशील हे उनके लिये एकान्त मे बैठकर स्वय शाति से चिंतन करना ही विशेष लाभप्रद समझना चाहिये। प्राचीन समय मे व्यक्तिगत प्रतिक्रमण का व्यवहार चलता था। अधिक सख्या के कारण आज सुनाना आवश्यक हो तो अलग-अलग विभाग करके इस ढग से सुनाया जाय कि एक दूसरे की आवाज परस्पर टकराने नही पावे। धर्म स्वाश्रित

है और आचार वल उसका प्राण है। सुना जाय या नही, यदि भावना का वल है तो धर्माराधन हो सकता है। जैन शासन मे परिषह सहना भी धर्म माना गया है। अत साधारण गर्मी के परिषह मे साधक कैसे घवरा सकता है ? जो आराम प्रिय होगा वह तो साधना मे ही क्यो लगेगा ? प्राचीन समय के श्रावक अपने आराम हेतु धारण किए छत्र, चवर, पुष्पमाला आदि भी समवसरण मे जाते समय अलग कर देते थे क्योकि त्यागियो के पास सचित वस्तु लेकर जाना और भोग्य सामग्री का उपभोग करना अशातना मानी गई है फिर समवसरण मे पखा लगाना उचित कैसे हो सकता है। पूर्ण त्यागी सत, सति वृन्द को चाहिये कि गृहस्थ की आड लेकर मर्यादा को ढील नहीं दे।

प्रश्न १६. लोग शिष्टाचार मे जय जिनेन्द्र, जय वीर या जय जिन कहते हैं। जय जन क्यो नहीं कहा जाता। शास्त्र मे हर जन मे जिन (अर्हन्त) की योग्यता मानी है "अप्पा सो परमप्पा" उस वचन के अनुसार आत्मा और परमात्मा मे कोई भेद नहीं है फिर प्रत्यक्ष वाले जन को छोडकर परोक्ष के जिन की जय बोलने मे क्या लाभ ? राष्ट्र मे जय जवान बोला जाता है, ऐसे ही धर्म मे जय-जन बोला जाय तो क्या बाधा है ? इस तरह सब मानवो मे समानता एव प्रीति उत्पन्न होगी। कहा भी है कि जन-सेवा ही जिन सेवा है, इसमे आपका क्या विचार है ?

उत्तर—जन और जिन को एक समझकर जो प्रश्न किया गया कि जिन की जगह जन की जय बोलने मे क्या आपत्ति है ? इसके पहले यह समझना चाहिए कि शास्त्र मे जिस दृष्टि से जो वस्तु कही गई है, उसका उसी दृष्टि से

उपयोग किया जाय, अन्यथा वस्तु तत्त्व को समझने मे भूल होगी। "अप्पा सो परमप्पा" का वचन भी उसी तरह का है। निश्चय की अपेक्षा अथवा नैगमनय दृष्टि से जीव मात्र मे आत्म-गुण की सत्ता को ध्यान मे लेकर जन और जिन एक कहे गये है पर आध्यात्मिक विकास और ह्रास की अपेक्षा दोनो मे महान् अन्तर हे। जन रागी होता है तो जिन वीतरागी, जन अल्पज्ञ और जिन सर्वज्ञ है, जन अपूर्ण है तो जिन पूर्ण है। जैसा कि कहा है—

"सिद्धाँ जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध कोय,
कर्म मेल का अन्तरा, बूझे निरला कोय।"

अर्थात्-जीव सिद्ध के जैसा है और जीव ही सिद्ध होता है। दोनो मे कर्म मल का अन्तर है। जिसको कोई विरले ही समझ पाते है। जीव सावरण और सिद्ध निरावरण है। सिद्ध मे ज्ञानादि भाव प्रकट है जव कि जीव मे तिरोहित है। "एगे आया" इस सूत्र के अनुसार, द्रव्य दृष्टि से सव आत्मा एक होकर भी जन, जैन और जिन रूप पर्याये भिन्न-भिन्न है। जन भवानन्दी, जैन ज्ञानानन्दी और जिन आत्मानन्दी होते है।

समान भाव से की गई जन सेवा और जिन सेवा मे जन सेवा पुण्य सचय का कारण हो सकती है, जव कि जिन सेवा कर्म निर्जरा के द्वारा आत्मा को हल्का कर अरिहन्त पद का अधिकारी तक वना देती है। यही कारण है कि 'जिन' प्राणी मात्र के पूज्य माने जाते है और साधारण जन मात्र पूजक हो सकते हैं। जन और जिन मे उतना ही अन्तर है जितना भक्त और भगवान् और गुरु और शिष्य मे होता है।

इसलिये ससार जिनेन्द्र की भक्ति करता और उनकी जय बोलता है।

जय जवान और जय किसान का नारा राष्ट्र-हित मे जवानो को प्रोत्साहित करने के लिये कहा जाता है। उसमे उनको प्रसन्न रखने की भावना है, क्योकि वहा स्वार्थ है। जय गान से जवानो और किसानो मे उत्साह बढेगा जिससे वे राष्ट्रहित मे अधिक-से-अधिक आत्मोत्सर्ग करने को तैयार रहेगे। पर जय-जिन और जय गाँधी कहने मे गुणो की प्रीति एव आदर की भावना है स्वार्थ नही। साधारण जन और जीव मैत्री भावना के पात्र हैं प्रमोद के नही। जय गुणियो की ही बोली जाती है क्योकि वे प्रमोद पात्र है। इसलिए प्रत्यक्ष दृष्ट जन को छोडकर 'जिन' की जय बोलना धर्म या पुण्य लाभ की दृष्टि से उचित माना गया है।

प्रश्न २० श्वेताम्बर परम्परा मे ४५ आगम माने जाते हैं, जिनमे ११ अग और ३४ अगबाह्य मूल, छेद और उपाग आदि हैं। इग्यारह अग शास्त्रो के अतिरिक्त ३४ अग-बाह्यो मे कुछ को प्रामाणिक और प्रकीर्ण आदि अन्य सूत्रो को अप्रमाणिक मानने का माप दड क्या है? लौंकाशाह या पूर्ववर्ती आचार्यो ने उनको किस आधार से अप्रामाणिक माना, स्पष्ट करें?

उत्तर—जैन साहित्य मे अग और अग बाह्य दो प्रकार के सूत्र माने गये है। तीर्थंकरो से सुनकर गणधर जिनकी रचना करते है, वे अग सूत्र और स्थविर आचार्यो द्वारा रचे गये उपाग-प्रकीर्णक आदि सूत्र अग बाह्य कहलाते है। वर्तमान मे ११ अग सूत्रो के अतिरिक्त सब शास्त्र अग बाह्य कहे गये

है। अग वाह्य सूत्रो की प्रामाणिकता का आधार अगानुसारिता हे। स्थविर रचित सूत्रो का अग शास्त्र के अनुकूल और अग शास्त्र के भावो का समर्थक-पोषक होना ही उनकी प्रामाणिकता का माप दड है। साधुमार्गी (स्थानकवासी) परपरा मे अग तथा उन अग वाह्य शास्त्रो को ही प्रामाणिक माना गया है जो वीतराग-वचनो याने अगशास्त्रो से अवाधित हो। लौकाशाह ने यह निर्धारण किया हो कि इतने शास्त्र मानना अन्य नही, ऐसा उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता। सभव है अग शास्त्रो को मूलाधार मानकर लवजी ऋषि या इनके पूर्ववर्ती जीवराजजी म० ने ११ अग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद और आवश्यक इस प्रकार ३२ मान्य शास्त्रो की गणना निश्चित की हो। कारण प्राचीन नामवाले कई शास्त्रो मे पूर्वापर विरुद्ध एव अग शास्त्रो के प्रतिकूल अश भी मिलता है।

प्रश्न २१ शास्त्र पढने मे अस्वाध्याय के क्या क्या कारण हैं और किस कारण की स्थिति मे कितने काल तक स्वाध्याय नहीं करनी चाहिये।

उत्तर—सम्यक् रीति से मर्यादा पूर्वक सिद्धान्त मे कहे अनुसार शास्त्रो का पढना स्वाध्याय है। जिस काल अथवा जिन परिस्थितियो मे शास्त्र पढना मना है, वे अस्वाध्याय हैं। शास्त्र मे अस्वाध्याय के वत्तीस या चौतीस कारण कहे है। स्थानाग सूत्र मे बत्तीस अस्वाध्यायो का वर्णन है। वह इस प्रकार है—दश आकाश सम्बन्धी, दश औदारिक-सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओ के पूर्व की पूर्णिमाएँ, और चार सन्ध्याएँ। अन्य ग्रन्थो मे कुछ मतभेद

भी है। परन्तु यहा स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार ही लिखा जा रहा है।

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तेज पुञ्ज का गिरना, अथवा पीछे से रेखा एव प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात कहलाता है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह—किसी एक दिशा-विशेष मे मानो बडा नगर जल रहा हो, इस प्रकार ऊपर की ओर प्रकाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना, दिग्दाह है। दिग्दाह के होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित—बादल के गर्जन पर दो प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय नही करनी चाहिए।

(४) विद्युत्—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय करने का निषेध है।

आर्द्रा से स्वाति-नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु मे गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नही होती। क्योकि वर्षा काल मे ये प्रकृतिसिद्ध स्वाभाविक होते है।

(५) निर्घात—बिना बादल वाले आकाश मे व्यन्तरादि कृत गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते है। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(६) यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल

जाना, यूपक है। इन दिनो मे चन्द्र-प्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या का वीतना मालूम नही होता। अत तीनो दिनो मे रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करना मना है।

(७) यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा-विशेष मे विजली सरीखा, वीच-वीच मे ठहर-ठहर कर, जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीप्त कहते है। यक्षादीप्त होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(८) धूमिका—कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय मेघो का गर्भमास कहा जाता है। इस काल मे जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूँवर पडती है, वह धूमिका कहलाती है। यह धूमिका कभी-कभी अन्य मासो मे भी पडा करती है। धूमिका गिरने के साथ ही सभी को जल-क्लिन्न कर देती है। अत यह जव तक गिरती रहे, तव तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(९) महिका—शीत काल मे जो श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूँवर पडती हे, वह महिका है। यह भी जव तक गिरती रहे, तव तक अस्वाध्याय रहता है।

(१०) रजउद्घात—वायु के कारण आकाश मे जो चारो ओर धूल छा जाती है, उसे रजउद्घात कहते है। रज-उद्घात जव तक रहे, तव तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश आकाश सम्वन्धी अस्वाध्याय हैं।

(११-१३) पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि, मास और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हो तो सभव काल से तीन प्रहर

तक स्वाध्याय करना मना है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डाले तो एक दिन रात अस्वाध्याय रहता है। वर्तमान मे अस्थि-मास आदि को सामने से हटाने के वाद अस्वाध्याय नही माना जाता।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रक्त का अस्वाध्याय भी समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि—इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्रियो के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एव वालक, वालिका के जन्म का क्रमश सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) अशुचि—टट्टी और पेशाव यदि स्वाध्याय स्थान के समीप हो और वे दृष्टिगोचर होते हो अथवा उनकी दुर्गन्ध आती हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

(१५) श्मशान—श्मशान के चारो तरफ सौ-सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१६) चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ और उत्कृष्ट बारह प्रहर तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। यदि उगता हुआ चन्द्र ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एव चार प्रहर आगामी दिवस के–इस प्रकार आठ प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहण सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के चार प्रहर रात्रि के एव चार प्रहर दूसरे दिन के–इस प्रकार वारह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

पूर्ण ग्रहण होने पर भी वारह प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए। यदि ग्रहण अल्प-अपूर्ण हो तो आठ प्रहर तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(१७) सूर्य ग्रहण—सूर्य ग्रहण होने पर जघन्य वारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। अपूर्ण ग्रहण होने पर वारह, और पूर्ण तथा पूर्ण के लगभग होने पर सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्य अस्त होते समय ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के, और आठ आगामी अहोरात्रि के—इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। यदि उगता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन रात के आठ एव आगामी दिन-रात के आठ—इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१८) पतन—राजा की मृत्यु होने पर जव तक दूसरा राजा सिहासनारूढ न हो, तव तक स्वाध्याय करना मना है।

(१९) राजव्युद्ग्रह—राजाओ के वीच सग्राम हो जाय तो शान्ति होने तक तथा उसके वाद भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२०) औदारिक शरीर—उपाश्रय मे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का अथवा मनुष्य का निर्जीव शरीर पडा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश औदारिक-सम्वन्धी अस्वाध्याय है। चन्द्र-ग्रहण

निशीथ सूत्र के उन्नीसवें उद्देशे मे आश्विन के बदले भाद्रपद की महाप्रतिपदा को अस्वाध्याय माना है, इसलिए भाद्रपद पूर्णिमा और आसोज कृष्णा प्रतिपदा इन दो अस्वाध्यायो को बत्तीस अस्वाध्यायो मे मिलाकर चौतीस अस्वाध्याय भी माने गये है।

प्रश्न २२. आगमवाणी का महत्त्व और उसका आदर रखने के लिये यह आवश्यक है कि भय, शोक और घृणा रहित हो उचित देश काल मे ही उसका पाठ किया जाय। किन्तु वर्तमान मे जो ३२ या ३४ अस्वाध्यायें मानी गई हैं, उनमे कई निरुद्देश्य और अनावश्यक प्रतीत होती हैं जैसे चार महाप्रतिपदा और उनके साथ की पूर्णिमा, चाहे किसी समय इन्द्र रुद्र आदि के लिए कोई उन दिनो उत्सव या घोर हिंसा होती हो पर आज तो वैसा कुछ नहीं है। उलटे ईद और दशहरा के दिन

आजकल अधिक हिंसाए होती है। ऐसी स्थिति मे क्यो नहीं उन पडिवाओ के स्थान पर ईद आदि के दिनो को जोड़ दिया जाय। एवं उन दिनो अस्वाध्याय रक्खा जाय ?

उत्तर—३२ या ३४ अस्वाध्याये जो शास्त्र मे वतलाई गई है, उनमे कोई भी निरुद्देश्य अथवा अनावश्यक नही हैं। फिर भी देशकाल के परिवर्तन से कुछ अनावश्यक प्रतीत हो सकती है, क्योकि आगमकाल के समान आज पूर्णिमा पर इन्द्रादि के उत्सव नही होते और उनके स्थान पर नये पर्व होने लगे हैं जिनमे कि हजारो लाखो पशुओ के प्राणो से होली खेली जाती है। जहा कही ऐसा वीभत्स दृश्य गाव मे हो वहा उस दिन अस्वाध्याय मानने मे कोई बाधा नही है। टीकाकार आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रतिपदा का अर्थ प्रतिपत् तक के चार महोत्सव समझने चाहिये। इनमे उत्सव जिस देश मे जिस दिन से आरम्भ हो वहा उस दिन से लेकर उत्सव समाप्ति तक अस्वाध्याय काल समझना चाहिए।

१ चउसझासु न कीरइ, पाडिवएसु तहेव चउसु पि ।
जो जत्थ पूजती व, सव्वेहि सुगिम्हतो नियमा ॥

चतस्त्र प्रतिपद तद्यथा-आषाढ-पौर्णमासी प्रतिपत्, अश्व युक्पौर्ण मासी प्रतिपत्, कार्तिकी पौर्णमासी प्रतिपत्, सुग्रीष्म प्रतिपत्, चैत्रमास पौर्णमासी प्रतिपदित्यर्थं । इह प्रतिपद्-ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्चत्वारो महा सूचिता इति एषा चतुर्णां महाना मध्ये यो महो यस्मिन् देशे ततो दिवसादारम्य यावन्त काल पूर्यते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्त काल स्वाध्याय न कुर्वन्ति । यत्पुन "सर्वेषा सव्वेसिं जाव पाडिवतो" इति वचनात् सुग्रीष्मकश्चैत्रमासभावी पुनर्महामह सर्वेषु देशेषु

शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूर्णमासीप्रतिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्ध । (व्य० भा० उ० ७)

इस प्रकार दशहरा या ईद भी उनके अन्तर्गत आ जाते है। किन्तु इनका रूप सर्वत्र नियत नही होता, अत पौर्णमासी और प्रतिपदा को ही सर्वदेशी अस्वाध्याय तरीके रक्खा है। सम्भव है हिंसा के प्रतिवाद मे ये विरोध दिवस मान्य किये गये हो। दैवी-उपद्रव से वाचक की आत्म रक्षा का भी इसमे लक्ष्य रखा गया है।

जातीय संघर्ष मे जहा मुसलमान नही होते वहा आज भी ईद नही मनाई जाती और अहिंसा प्रेमी शासको के राज्यकाल मे बलि-प्रथा भी बन्द कर दी गई थी। अत महापडिवाओ के समान या इनके स्थान पर ईद या दशहरे आदि की अस्वाध्याय नियत नही की जा सकती। हा देशकाल के अनुसार हिंसा स्थल पर अनध्याय रखा जा सकता है जो पूर्वाचार्यो से समर्थित भी है।

प्रश्न २३ गाज, बीज, उल्कापात, ग्रहण और बाल-चन्द्र आदि भय जनक स्थिति मे अनाध्याय काल विभिन्न प्रकार से मिलता है, जैसे गर्जारव विद्युत और बालचन्द्र के लिए कुछ आचार्य २ पहर और कुछ एक पहर का काल कहते हैं जबकि दूसरे अनियत काल मानते हैं। चन्द्र ग्रहण और सूर्य-ग्रहण मे कहीं ८-१२-१६ पहर का उल्लेख है तो कहीं ८ और १२ पहर का ही। कुछ आचार्य ग्रहण होने के पूर्व से अनध्याय मानते है तो चालू परंपरा मे ग्रहण होने के (छूटने के) समय से, ऐसा क्यो ? रजोद्योत और महिका की तरह जब तक गाज बीज, और ग्रहणादि हो तब तक

गुञ्जारव करता हुआ महा गर्जन का ८ प्रहर अनाध्याय काल कहा गया है।

यहा इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि घूप या ग्रहण का अनाध्याय अशौच की दृष्टि से नही होकर उत्पात की दृष्टि से ही माना गया प्रतीत होता हो। वैष्णव सम्प्रदाय मे ग्रहण का सूतक माना जाता है, सम्भव है टीकाकार के विचार इससे प्रभावित हो, वे लोग ग्रहण के कुछ समय पहले से लेकर ग्रहण मोक्ष के अनन्तर कुछ काल तक अशौच मानते हो। पर जैनाचार्यो ने ग्रहण काल मे शास्त्र पाठ का मात्र अनाध्याय माना है, किन्तु खाने पीने की वस्तुओ पर सूतक लगना नही माना और यह सूत्र-पाठ का अनाध्याय भी दैवी उत्पात की दृष्टि से मात्र आत्म-रक्षार्थ ही कहा गया प्रतीत होता है। अस्वाध्याय के निर्धारण मे लोक व्यवहार को भी लक्ष्य मे रखा गया हो तो आश्चर्य नही।

प्रश्न २४ जैन-धर्म की परम्परा मे व्रतियो के लिये उपवास आदि व्रत मे सचित्त जल का निषेध है, अत: श्रावक श्राविकाओ को अपने लिये प्रासुक-अचित्त जल की व्यवस्था करनी होती है। इसके लिए या तो गर्म पानी बना लिया जाता है, अथवा राख से मले हुए भाडो को धोकर तथा राख या लवग आदि की लुगदी डालकर अचित्त बना लिया जाता है। आजकल ऐसी रीति है कि सामूहिक दया और रास्ते मे काम पड जाय तो गर्म पानी की व्यवस्था आसान नहीं होती अत अधिकाश लोग का जल काम मे लिया जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से अचित्त जल कैसा होना चाहिये, कृपया स्पष्ट करावें?

उत्तर—जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है अत. आयबिल-

एकासन और उपवारा आदि किसी भी व्रत मे यहा सचित वस्तु, फलफूल एव कच्चे जलादि का उपयोग करना निषेध है। पौषध की तरह एकासन या उपवास आदि व्रत मे गृहस्थ को आरभ का त्याग नही होता, उसको सचित्त सेवन का ही त्याग है, गृहस्थ अपने वास्ते स्वय भी अचित्त पानी वनाकर सेवन करता है, फिर भी लक्ष्य उसका आरभ घटाने का ही होता है। अचित्त पानी दो तरह से होता हे, सहज भाव से वनाया हुआ जो स्थिति क्षय से जीवो के च्युत होने पर या पृथ्वी के ताप आदि से शस्त्र परिणत होता हे जैसे—मेघ का पानी, भस्म-चूना या तपे हुए शिलातल पर से जो वह आया है वह सहज अचित्त हो सकता है, और चूल्हे पर गर्म किया हुआ तथा क्षार एव अम्लादिपदार्थ से धोया हुआ प्रयोग कृत अचित्त है।

जगल मे शस्त्र-परिणत्त सहज अचित जल का भी योग मिल सकता है, किन्तु वह ग्रहण नही किया जा सकता—कारण उसमे मिट्टी के सयोग से फिर जीवोत्पत्ति की शका रहती है। दूसरी वात उसका ग्रहण व्यवहार मे अशुद्ध है। सहज शस्त्र-परिणत अचित्त जल के लेने से अशस्त्र परिणत मे भी प्रवृत्ति हो सकती है। अत वह अग्राह्य है आचीर्ण नही है। अव रही वनाये हुए अचित जल की वात—वह दो प्रकार का है। एक उष्ण जल गर्म किया हुआ और दूसरा धोया हुआ जिसको धोवन कहते है। साधुओ की आचार व्यवस्था दिखलाते हुए आचाराग और दशवैकालिक आदि सूत्रो मे अचित जल का स्वरूप वताया गया है। जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ मे ऐसे अचित्त जल का उल्लेख मिलता है। साधु के लिये २० प्रकार का धोवन और एक गर्म जल इस प्रकार २१ तरह के अचित्त जल वताकर वैसे अन्य भी जल ले सकते हैं, ऐसा कहा गया है।

जैसा कि आचार्य अमितगति ने अपने सुभाषित रत्न सदोह मे लिखा है ।

स्पर्शेन वर्णेन रसेन गधाद्, यदन्यथा वारि गत स्वभाव ।
तत्प्रासुक साधु-जनस्य योग्य, पातु मुनीन्द्रा निगदन्ति
जैना ।।२१८।।

अर्थात् जिस पानी का स्वभाव वर्ण, गध, रस और स्पर्श से अन्यथा रूप हो जाय यानी बदल जाय, वह अचित्त जल साधुओ के लिए ग्राह्य है । ऐसा जैन महर्षियो ने कहा है ।

जिस द्रव्य मे जितना वर्ण-गध-रस और स्पर्श तेज होता है, उस द्रव्य से मिश्रित जल उतना ही जल्दी परिणत होता हे अर्थात् अचित्त होता है । इतना ध्यान रखना चाहिये कि अशुभवर्णादि की उत्कटता मे जितना जल्दी परिणमन होता है उतना शुभ मे जल्दी नही होता । कहा भी है—

वण्ण-रस-गध-फासा, जह दव्वे जम्मि उक्कडा होति ।
तह तह चिर न चिट्ठइ, असुभेसु सुभेसु कालेण ।।
५६१४।।

जैसे—कही पानी मे चन्दन का घोल मिला दिया जाय, जैसा कि देवमूर्तियो के प्रक्षालन मे होता है तो चदन का कडवा रस जो पानी के लिये शस्त्र है परन्तु उसकी शीतलता उपकारी है अत वह पानी जल्दी शस्त्र-परिणत नही होता किंतु कुछ काल से अचित्त होता है । तक्र के खट्टे रस से भी ऐसे ही धोया हुआ पानी अचित्त होता है । घी के किट्ट से भी जल का परिणमन चिर-काल से होता है । तदुल के अपरिणत जल मे यदि सचित्त जल मिला दिया जाय तो वे दोनो कुछ काल से परिणत हो जाते हैं ।

पहले गर्म जल के लिये कहा है—"उसिरणादेग तत्तफासुय पडिगाहिज्ज नजए" गर्म जल जो अच्छी तरह तप कर निर्जीव हो चुका है उसे व्रती ग्रहण कर सकते हैं।

धोये हुए पानी के लिये कहते हैं —"अहुणा-धोय विवज्जए" तत्काल का धोया हुआ पानी नहीं लेना चाहिये।

प्रश्न २५ धोया हुआ पानी कितने प्रकार का और कैसा ग्रहण करने योग्य होता है इसके लिये मूल-सूत्र के उल्लेख और अचित्त जल की पहचान क्या ? स्पष्ट कराने की कृपा करें।

उत्तर—बृहत्कल्प सूत्र के भाष्य मे कहा है कि—

आयाम ससृप्ट पानक—गोरस भाजन धावनम्, उष्णोदकवा 'निवृत' चोप्रासुकीभूत, 'चाउलोदग' गृहन्ति। बृ० भा०। अर्थात् दूध-दही तक्रादि के भाजन का धोवन अथवा गर्म जल और चावलो का पानी ग्रहण करते हैं। दूध वाले के यहा सहज दूध-दही के भाड धोये ही जाते है, शस्त्र परिणत होने से वह ग्राह्य माना गया है।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि—जजाणिज्ज चिराधोय मइए दसणेण वा, पाडिपुच्छिऊण सोच्चावा, ज च निस्सकिअ भवे, अजीव परिणाय णच्चा, पडिगाहेज्ज सजए। द० ५।

जो जल चिरकाल का धोया हुआ है ऐसा देखकर या अनुमान से जान ले अथवा पूछकर मालूम करे और शकारहित हो तब निर्जीवपन से परिणत समझ कर साधु उसे ग्रहण कर सकते है। शस्त्र-परिणत अचित्त जल की परीक्षा वर्ण-गध-रस और स्पर्श बदलने से की जाती है।

जैसा कि आचार्य अमितगति ने अपने सुभाषित रत्न सदोह मे लिखा है ।

स्पर्शेन वर्णेन रसेन गधाद्, यदन्यथा वारि-गत स्वभाव ।
तत्प्रासुक साधु-जनस्य योग्य, पातु मुनीन्द्रा निगदन्ति जैना ॥२१४॥

अर्थात् जिस पानी का स्वभाव वर्ण, गध, रस और स्पर्श से अन्यथा रूप हो जाय यानी बदल जाय, वह अचित्त जल साधुओ के लिए ग्राह्य है । ऐसा जैन महर्षियो ने कहा है ।

जिस द्रव्य मे जितना वर्ण-गध-रस और स्पर्श तेज होता है, उस द्रव्य से मिश्रित जल उतना ही जल्दी परिणत होता है अर्थात् अचित्त होता है । इतना ध्यान रखना चाहिये कि अशुभवर्णादि की उत्कटता मे जितना जल्दी परिणमन होता है उतना शुभ मे जल्दी नही होता । कहा भी है—

वण्ण-रस-गध-फासा, जह दव्वे जम्मि उक्कडा होंति ।
तह तह चिर न चिट्ठइ, असुभेसु सुभेसु कालेण ॥
५६१४॥

जैसे—कही पानी मे चन्दन का घोल मिला दिया जाय, जैसा कि देवमूर्तियो के प्रक्षालन मे होता है तो चदन का कडवा रस जो पानी के लिये शस्त्र है परन्तु उसकी शीतलता उपकारी है अत वह पानी जल्दी शस्त्र-परिणत नही होता किंतु कुछ काल से अचित्त होता है । तक्र के खट्टे रस से भी ऐसे ही धोया हुआ पानी अचित्त होता है । घी के किट्ट से

पहले गर्म जल के लिये कहा है—"उसिरणादेग तत्तफासुः पडिगाहिज्ज सजए" गर्म जल जो अच्छी तरह तप कर निर्जीव हो चुका है उसे व्रती ग्रहरण कर सकते है ।

धोये हुए पानी के लिये कहते है —"अहुरणा-धोय विवज्जए" तत्काल का धोया हुआ पानी नही लेना चाहिये ।

प्रश्न २५ धोया हुआ पानी कितने प्रकार का और कैसा ग्रहण करने योग्य होता है इसके लिये मूल-सूत्र के उल्लेख और अचित्त जल की पहचान क्या ? स्पष्ट कराने की कृपा करें ।

उत्तर—वृहत्कल्प सूत्र के भाष्य मे कहा है कि—

आयाम ससृष्ट पानक—गोरस भाजन धावनम्, उष्णोदकवा 'निवृत' वोप्रासुकीभूत, 'चाउलोदग' गृहन्ति । वृ०-भा० । अर्थात् दूध-दही तक्रादि के भाजन का धोवन अथवा गर्म जल और चावलो का पानी ग्रहरण करते है । दूध वाले के यहा सहज दूध-दही के भाड धोये ही जाते है, शस्त्र परिरणत होने से वह ग्राह्य माना गया है ।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि—जजारिणज्ज चिराधोय मइए दसरगेरण वा, पाडिपुच्छिऊरण सोच्चावा, ज च निस्सकिअ भवे, अजीव परिरणय रगच्चा, पडिगाहेज्ज सजए । द० ५।

जो जल चिरकाल का धोया हुआ है ऐसा देखकर या अनुमान से जान ले अथवा पूछकर मालूम करे और शकारहित हो तब निर्जीवपन से परिरणत समझ कर साधु उसे ग्रहरण कर सकते हैं । शस्त्र-परिरणत अचित्त जल की परीक्षा वर्ण-गध-रस और स्पर्श बदलने से की जाती है ।

जैसा कि आचार्य अमितगति ने अपने सुभाषित रत्न सदोह मे लिखा है।

स्पर्शेन वर्णेन रसेन गधाद्, यदन्यथा वारि-गत स्वभाव ।
तत्प्रासुक साधु-जनस्य योग्य, पातु मुनीन्द्रा निगदन्ति जैना ॥२१४॥

अर्थात् जिस पानी का स्वभाव वर्ण, गध, रस और स्पर्श से अन्यथा रूप हो जाय यानी बदल जाय, वह अचित्त जल साधुओ के लिए ग्राह्य है। ऐसा जैन महर्षियो ने कहा है।

जिस द्रव्य मे जितना वर्ण-गध-रस और स्पर्श तेज होता है, उस द्रव्य से मिश्रित जल उतना ही जल्दी परिणत होता है अर्थात् अचित्त होता है। इतना ध्यान रखना चाहिये कि अशुभवर्णादि की उत्कटता मे जितना जल्दी परिणामन होता है उतना शुभ मे जल्दी नही होता। कहा भी है—

वण्ण-रस-गध-फासा, जह दव्वे जम्मि उक्कडा होति ।
तह तह चिर न चिट्ठइ, असुभेसु सुभेसु कालेण ॥
५६१४॥

जैसे—कही पानी मे चन्दन का घोल मिला दिया जाय, जैसा कि देवमूर्तियो के प्रक्षालन मे होता है तो चदन का कडवा रस जो पानी के लिये शस्त्र है परन्तु उसकी शीतलता उपकारी है अत वह पानी जल्दी शस्त्र-परिणत नही होता किंतु कुछ काल से अचित्त होता है। तक्र के खट्टे रस से भी ऐसे ही धोया हुआ पानी अचित्त होता है। घी के किट्ट से भी जल का परिणामन चिर-काल से होता है। तदुल के अपरिणत जल मे यदि सचित्त जल मिला दिया जाय तो वे दोनो कुछ काल से परिणत हो जाते है।

दाडिम-दाख-केर-आम और कठोत आदि के धोए हुये पानी के लिये भी ऐसा ही समझना चाहिये। लौग का पानी और वादाम का धोया हुआ जल व त्रिफला का पानी भी शस्त्र परिणत होता है। रसोई मे आटा की परात वगैर का धोया हुआ पानी और परडे के लोटे कलसे आदि जो सफाई के लिये राख से माज कर धोये जाते है वह पानी भी शस्त्र परिणत होने से अचित्त होता है। किन्तु शक्कर घोला हुआ पानी कदाचित शस्त्र परिणत हो भी जाय तो व्रती के लिये उसका उपयोग शोभाजनक प्रतीत नहीं होता। कुछ लोग घडे भर पानी मे जरा राख की पोटली घुमाकर या थोडी राख डालकर भी पक्का पानी करते है। राख मे तीक्ष्ण स्पर्श होते हुए भी घडे भर पानी मे ऊपर से थोडी डाली हुई राख या चूना से पानी अचित होता है या नहीं यह विचारणीय वात है।

प्रश्न २६ कुछ लोग धोवन का निषेध करते और उसको कच्चा मानते हैं तो कुछ गर्म पानी को सदोष बतलाते हैं, यह कहा तक ठीक है ?

उत्तर—जो लोग धोवन के जल का निषेध कर एकान्त गर्म जल का ही विधान करते हैं, वे सिद्धान्त वचन को भूलते है। सिद्धान्त मे धोवन एव गर्म जल दोनो प्रासुक व ग्राह्य माने गये है। दिगम्वर परम्परा मे भी श्वेताम्वर परम्परा की तरह अचित जल का उल्लेख करते हुए स्पष्ट धोवन के नाम निर्दिष्ट है, जैसे कि —

तिल-तदुल, उसिणोदय, चणोदय-तुसोदय अविद्धत्थ।
अण्ण तहाविह वा, अपरिणइ नेव गिण्हेज्जा ॥
॥ मूलाचार ५४ ॥

आचाराग सूत्र, दशवैकालिक और भगवती आराधना आदि श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के शास्त्रो मे धोवन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अत धोवन जल का एकान्त निषेध करना या उसको कच्चा मानना भूल है। थोडी राख या ५-१० लौंग डाल कर जो घडा भर अचित पानी कर लिया जाता है, वह अवश्य विचारणीय है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि धोवन मे द्रव्य के मिश्रण से जल का रग, रूप और स्वाद बदलना जरूरी है। यद्यपि सफेद राख या आटे का पानी नितर कर साफ हो जाता है, फिर भी अच्छी तरह फरसा हुआ होगा तो स्वाद मे जरूर अ तर पड जायगा। पहले समय मे सामूहिक दयाव्रत आदि के समय वर्फखाने या पवन चक्की आदि से गर्म पानी मगा लिया जाता था। इजन से जो गर्म-पानी व्यर्थ ही फेका जाता उसका भी इस तरह उपयोग हो जाता था। उसको छानकर व्रतियो के सामूहिक व्रताराधन मे काम लिया जाता था। दूसरा तरीका २०-३० घरो से थोडा थोडा अचित पानी मगा कर इकट्ठा कर लिया जाता—इससे भी व्रत का सम्यक् आराधन हो जाता था। आज आलस्य से कुछ व्यवस्था बिगड गई है, उसमे सुधार होना आवश्यक है।

मूर्ति पूजक समाज मे जब आयबिल या उपधान आदि किये जाते हैं तब वही पर गर्म पानी उबाल लिया जाता है और वे एकान्त गर्म-जल का ही उपयोग करते है। शास्त्र सम्मत होते हुए भी धोवन का उपयोग नही करते। यह एकान्तवाद उचित नही है।

तेरापथी समाज मे अलग ही रिवाज है। उनके यहा राख या चूना डाल कर घडो भर पका पानी कर लिया जाता है और फिर सारा घर भर उसका उपयोग करता है। इन दोनो

उत्तर—यह ठीक है कि जैन साधु साध्वी अनारम्भी और अपरिग्रही होते है वे किसी प्रकार का सग्रह नही करते और न अधिक लेकर इधर उधर कही भेजते या किसी को देते है। उनके द्वारा सयम रक्षा के लिए आवश्यक धर्मोपकरण रखना और उनका सम्मार्जन-प्रमार्जन करना भी आरम्भ से बचने के लिए ही है। अपने पास रखे हुए वस्त्रादि की अपेक्षा गृहस्थ से अल्पकाल के लिए ग्रहण किये गये वस्त्रादिको मे

रक्षरण एव सम्मार्जन की अधिक झझट होती है । सदा इस वात के लिए सतर्क रहना पडता है कि कही यह गुम न जाय, साव-धानी रखते हुए भी गुम हो गया तो गृहस्थ की अप्रीति एव खिन्नता अवश्यम्भावी है । फिर यह भी सम्भव है कि साधु को देने के लिए गृहस्थ वस्त्रादि को धो डाले । यदि कोई जैनेतर व्यक्ति हुआ तो साधु के द्वारा उपयोग मे लिए गये वस्त्रादि को पीछे धो डालेगा, जो आरम्भ वृद्धि का कारण है । साधु को अपनी नेश्राय के वस्त्रादि मे किसी को प्राय अपहरण आदि की इच्छा ही नही होगी, कारण वे प्राय कम-कीमत के और जीर्ण शीर्ण होगे । मलिन और कम कीमत को देखकर उसे कोई लेना नही चाहेगा और कदाचित किसी नये वस्त्रादि का अपहरण हो भी गया तो उसमे किसी गृहस्थ को दु ख पैदा होने की सभावना नही है । फिर गृहस्थ से वस्त्रादि लिया जाने लगा तो उसमे प्रमाण भी नही रहेगा और अल्पोपधि रूप निर्जरा का लाभ प्राप्त नही होगा । इससे साधु-वर्ग मे सुख-शीलता वढ जाने की सम्भावना रहेगी । यही कारण है कि शास्त्र मे लेकर दी जाने वाली वस्तुओ मे औषध, भैषज्य और पीठ-फलक-शय्या-सस्तारक ही बताए गए है, जिनमे प्राय हरण आदि की सम्भावना नही रहती । वस्त्र, पात्र, रजोहरण या कम्वलादि के लिये पडिहा-रिक लेने की अनुमति नही है । आजकल धोने के पात्र पडिहारे लेने की पद्धति चल रही है । यदि इसी प्रकार कम्वल या जल-पात्रादि भी लिये जाने लगे तो उपाश्रय मे गृहस्थ इनको मगा-कर रखने की व्यवस्था करने लगेंगे । अत आवश्यकतानुसार जहा जो चाहा वस्त्रादि लेकर जाते समय दे जाना, ऐसी रीति उचित प्रतीत नही होती । पीठ फलक की तरह वस्त्र, पात्र और कम्वल के पडिहारा लेने का शास्त्र मे कही उल्लेख भी नही है, न इनके पडिहारा लेने की परम्परा ही है । कुछ सम्प्रदायो

मे ऐसी परम्परा है पर स्थानकवासी समाज मे ऐसी मान्यता नही है ।

प्रश्न २९. जैन परम्परा मे उपवास करने वाले भाई बहिन ११वा और १०वा दो प्रकार का पौषध करते हैं। ११वा पौषध जिसके लिए आवश्यक सूत्र मे प्रतिज्ञा पाठ आता है, उसमें चारो आहार के त्यागपूर्वक आठ पहर तक सावद्य कर्म का त्याग होता है । आजकल जो निजल व्रत करता है वह भी दिन के पिछले समय मे आकर ११ वा व्रत ग्रहण कर लेता है, इसमे कम से कम कितना समय दिन का होना आवश्यक है और क्या जल ग्रहण करने वाला भी "पाण" शब्द निकाल कर ११वें व्रत के पाठ से पौषध का पच्चक्खाण कर सकता है? दशवें व्रत-पौषध के पच्चक्खाण का क्या पाठ होना चाहिए आदि प्रश्न खड़े होते हैं क्योंकि प्रतिक्रमण सूत्र मे दशवें व्रत का जो पाठ है उसके द्वारा व्रत ग्रहण करने पर तो नियमित भूमि से बाहर जाकर पांच आश्रव सेवन के ही त्याग होते हैं। नियमित सीमा के भीतर साधक, आश्रव प्रवृत्ति मे खुला रहता है। ऐसी स्थिति मे इस पाठ से संवर या १०वा पौषध करना ठीक नहीं रहता, इसका क्या समाधान है? कृपया स्पष्ट करावें ।

उत्तर—मूल पाठ मे पौषध नाम से ११वा व्रत ही कहा जाता है, कारण उस समय उपवास करने वाले अहोरात्रि का ही पौषध करते थे, पर आज वह स्थिति नही है । आज उपवास करके भी लोग गृहकार्य मे लगे रहते है । उनकी दृष्टि से आचार्यो ने देश पौषध और सर्व पौषध का भेद किया है । आहार, शरीर शृंगार, कुशील एव सावद्य व्यापार के आंशिक त्याग को देश पौषध एव पूर्ण त्याग को सर्व पौषध कहा है ।

इसी दृष्टि से त्रिविधाहार त्याग एव रात्रि संवर वाले को देश पौपध की सज्ञा दी गयी है। देश पौषध को ही पूर्वाचार्यो ने दशवे पौषध के नाम से पुकारा है।

प्रश्न ३० कुछ ऐसी भी मान्यता है कि पौषध एक ही प्रकार का होता है दशवां पौषध नहीं होता, फिर यह दशवा पौषध अलग क्यो किया जाता है?

उत्तर—पौषध का अर्थ है अष्टमी आदि पर्व तिथियो में किये गये उपवास को पौषधोपवास कहा गया है। जैसे कि टीका मे कहा है—पौषध शब्दो रूढ्या पर्व सुवर्तते। यह पौपधोपवास चार तरह का कहा गया है जैसा कि कहा है पोसहोववासे चउव्विहे पण्णते तजहा आहार पोसहे १, सरीर सक्कार पोसहे २, वभचेर पोसहे ३, अव्वावार पोसहे ४। आहार, शरीर सत्कार, कुशील और सावद्य व्यापार के त्याग मे कोई एक भी त्याग पौपध कहा जाता है। व्रतो मे पौपध का नाम एक ही मे आने से यदि सबको ११वा व्रत माना जाने लगा तो एकासन भी पौपधोपवास मे गिना जायगा, पर ऐसा इष्ट नही है। टीकाकारो ने चारो का देश अथवा सर्वथा त्याग करना भी पौषध माना है। शब्दार्थ की दृष्टि से यह ठीक होते हुए भी प्रवृत्ति रूप से ऐसा मानना ठीक नही होगा। भले ही भगवती सूत्र मे सख श्रावक के खा पीकर पौषध करने के उल्लेख से आज के दया रूप पौषध को भी कोई ११वा व्रत समझ ले परन्तु जब व्रत के प्रतिज्ञा सूत्र पर विचार किया जाता है तब प्रतीत होता है कि उसमे "तिविह चउव्विहपि आहार" की तरह देश और सर्व-पौषध का ऐच्छिक प्रतिज्ञा पाठ नही है। पाण या असण, पाण, खाइम, साइम, निकाल कर प्रतिज्ञा पाठ पढना ठीक नही। देश एव सर्व का भेद नही करने पर स्नान

त्याग जो १०वे व्रत का अग हो सकता है और कुशील त्याग जो चौथा व्रत है, शब्दार्थ की दृष्टि से इनको भी ११वा व्रत मानना होगा, जो परम्परा के विरुद्ध है।

शास्त्रो मे जहा भी किसी श्रावक के पौषध आराधना का उल्लेख मिलता है वहा "पडिपुन्न पोसह सम्म अणुपालेमाणा विहरन्ति" ऐसा पाठ आता है। सम्राट भरत के देश साधन के समय अष्टम-तप के साथ किया गया पौषध जो धर्म तप नही है वह भी पूर्ण अहोरात्रकाए है। इन सब पौषध के उदाहरणो मे सम्पूर्ण अहोरात्रि का काल ग्रहण किया गया है। यदि दिन के अन्त मे आने वाले साधक को केवल आहार त्याग के कारण ११वा व्रत का अधिकारी मान लिया जाय तो प्रतिज्ञा सूत्र का रूप भी बदलना होगा। "अहोरत्त" के स्थान पर "जावरत्त" शब्द बोलना होगा।

अत हमारी समझ से आचार्यो ने जल ग्रहण करने वालो के लिए दशवे पौषध की परम्परा इसीलिए कायम की होगी कि सम्पूर्ण पौषध की परिपाटी चालू रहे और कक्षा भेद करने से देश पौषध करने वाले भी साधना से वचित नही रहे। यदि सायकाल का पौषध, दया और तिविहार उपवास युक्त पौषध तथा ५ एव ८ पहर के पौषध की एक ही कक्षा मान ली जाय तो साधारण व्यक्ति प्रतिपूर्ण पौषध करने का कष्ट नही करेगा। ११ वें व्रत के नियम वाले भी दया एव सायकाल के पौषध से ही अपने व्रत की पूर्ति लेगे।

निर्जल उपवास करने वाला कम से कम १ पहर का दिन रख कर पौषध करे, ऐसी पूर्वाचार्यो की परम्परा है। इस प्रकार 'अहोरत्त' शब्द की भी सार्थकता हो जाती है। पूरे आठ पहर व्रत की साधना करने वाला 'पडिपुन्न पोसह' शब्द बोलता है,

वहा पाच पहर वाला व्रती केवल 'इगारवा पोसह' इतना ही पाठ वोलता है, यह अन्तर है।

दशवे पौषध और सवर मे मर्यादित भूमि के अन्दर और वाहर आश्रव सेवन का त्याग होता है। इसलिये दशवे व्रत के चालू पाठ से पौषध का पच्चखाण नही होता, उसमे केवल मर्यादित भूमि के वाहर पाच आश्रव सेवन का ही त्याग होता है। अतएव या तो नियम के पाठ मे 'नियमित भूमि के वाहर और भीतर पाच आश्रव सेवन का पच्चखाण जावरत्ति' ऐसा पाठ कहा जाय अथवा सवर के पाठ की तरह-द्रव्य से पाच आश्रव सेवन का, क्षेत्र से सव क्षेत्र मे, काल से सूर्योदय अथवा जाव 'अहोरत्त,' भाव से दो करण ३ योग से न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा—इस प्रकार पच्चखाण करना उचित लगता है। परम्परा से इसी प्रकार दशवे देश पौषध का पच्चक्खाण कराया जाता है।

प्रश्न ३१ गुरुदेव! साधना के समय मन का भटकना कैसे कम हो, उसका सरल उपाय हो तो वतलाइये?

उत्तर—भाई! वात कहने मे तो सरल है, पर उस पर अमल करना कठिन है। सतो ने दो शब्द मे कह दिया है, मन की दौड का क्षेत्र सीमित करने का अभ्यास किया जाय तो भटकना कम हो सकता है। जैसा कि श्री कृष्ण ने गीता मे कहा है—

असशय महावाहो! मनो दु निग्रह चल।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च धार्यते॥

हम देखा करते हैं कि एक शाकाहारी व्यक्ति जिसको माँस से घृणा हो चुकी है, माँस की प्रशसा सुनकर और देखकर भी उसकी कभी इच्छा नही होती। उसे ऐसा स्वप्न भी नही आता। माता वहन को आदर से देखने वाला तरुण भी खुले वदन और एकान्त मे भी मा वहन को देखकर वुरे

भाव नही करता, मातृ गमन का उसे कभी स्वप्न भी नही आता।

भारत के सतो ने त्याग का उपदेश भी इसीलिये दिया है। जिन पदार्थों का हमने त्याग कर दिया, उसकी ओर मन की दौड कम हो जायेगी। एक विद्यार्थी को व्यापार की और व्यापारी को खेल कूद की इच्छा नही होगी। आप लोगो को जैसे शादी, ब्याह, उद्योग-धधे और लेन-देन आदि के स्वप्न आते है, पर सतो को कभी ऐसा स्वप्न नही आता। उनको भक्तो के सुख-दुःख, धर्म-प्रचार, शिष्यप्राप्ति, विविध ग्रामो मे भ्रमण, लिखना, शास्त्र ग्रहण आदि के विचार आ सकते है। ऐसा क्यो ? उनके सम्पर्क का क्षेत्र छोटा व स्नेह और राग का क्षेत्र ओछा है। अत वैराग्य को मन की दौड सीमित करने का और अभ्यास को स्थिर करने का उपाय कहा गया है।

बालक गाँव के खुले मैदान मे खेलता हुआ कही भटक सकता है पर उसको खिलौने देकर किसी बाडे मे छोड दिया जाय तो वह वही खेलता रहेगा, बाहर नही जायेगा। यही हाल साधक के मन का है।

श्री अंतगड़ दशांग
के
प्रश्नोत्तर

अन्तगड़-दशांग के विचारणीय स्थल

प्रश्न १ नेमिनाथ भगवान् के छ मुनि तीन सघाडे बनाकर अलग-अलग भिक्षा के लिये गये ऐसा क्यो, क्या पूर्व समय मे सारे श्रमणो की एक ही गोचरी नही होती थी ?

उत्तर—छ मुनियो द्वारा तीन सघाडे वनाकर भिक्षार्थ जाने के उल्लेख से प्रतीत होता है कि पूर्व समय मे सामूहिक गोचरी की अपेक्षा इस प्रकार प्रत्येक सघाडे की भिन्न भिन्न गोचरी ही अधिक हुआ करती थी। उसमे समय भी कम लगता और आहार की गवेषणा भी आसानी से होती। सभव है इसी-लिये भगवान् नेमिनाथ के शासन मे छ मुनियो के अलग अलग सघाडे किये गये हो। दूसरी इसके पीछे यह भी भावना रही हुई है कि हर मुनि ज्ञान ध्यान की तरह भिक्षा को भी अपना प्रधान कर्त्तव्य समझे और उसमे सकोच अनुभव नही करे। इसलिये स्वय गौतमस्वामी भी बेले के पारणे मे खुद जाकर भिक्षा लाते ऐसा शास्त्रीय लेख है। छोटा वडा हर साधु भिक्षा लाना अपना कर्तव्य समझता था। आज की सामाजिकता मे जन-सपर्क और विद्यार्थी मुनियो का अभ्यास, वडे साधुओ का सघ-सचालन एव आगतजनो को ज्ञान-दान सरलता से हो इस लिये सामूहिक भिक्षा होने लगी है। लाभ की तरह इसमे कुछ हानि भी है। शहर मे अधिक साधुओ की गोचरी मे २-२॥ घटे सहज पूरे हो जाते हैं, ज्ञान-ध्यान के लिए समय निकालना

कठिन हो जाता है। फिर पूर्व समय की तरह आज उन्मुक्त कुलो की भिक्षा भी नही होती। प्राय समाज के माने हुए घरो मे ही जाना होता है। अत व्यवस्था के लिये सबकी एक गोचरी कर दी गई। यदि अलग २ सघाडे की भिक्षा रखते तो कौन किन घरो मे जावे यह व्यवस्था भारी हो जाती। फिर विभिन्न गण और सप्रदायो के हो जाने पर एक सघाडे से दूसरे सघाडे का भेद प्रतीत न हो और गण का बाहर मे एक रूप दिखे इसलिये भी सामूहिक गोचरी का चलन आवश्यक प्रतीत हो गया है।

प्रश्न २ शास्त्र मे उच्च, नीच और मध्यम कुल की भिक्षा का वर्णन आता है, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—यहा जाति की दृष्टि से ऊँच-नीच कुल का मतलब नही है। व्यवहार मे जो भी घृणित या निषिद्ध कुल है, उनमे भिक्षा ग्रहण करने का तो पहले ही शास्त्र मे निषेध है। आचाराग द्वितीय श्रुतस्कध और निशीथ इसके साक्षी है, अत यहा उच्च नीच और मध्यकुल भवन, प्रतिष्ठा और सपदा की दृष्टि से समझने चाहिये। प्रासादवासी उच्च, मझली स्थिति वाले मध्य और झोपडी मे रहने वाले तथा परिवार से छोटे कुल नीच कुल समझने चाहिये। शास्त्र मे भिक्षा विधि बतलाते हुए कहा है—'नीय कुल मइक्कम्म, ऊसढ नाभिधारए' छोटे कुल को लाघ कर साधु ऊचे कुल-भवन मे न जाए। यहाँ नीच और उच्छित से उच्च ये दो ही कुल बतलाये है। इसलिये नीच से निषिद्ध कुल समझना ठीक नही। निर्ग्रन्थ मुनि छोटे बडे सभी घरो मे निस्सकोच भिक्षा करते थे। कारण वे अप्रतिबद्ध विहारी थे। इस प्रकार, सामूहिक भिक्षा से अज्ञात जनो मे धर्म का सहज प्रचार हो जाता था। धर्म प्रचार के लिये

आज भिक्षा मे उदार दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है। आचाराङ्ग सूत्र के अनुसार जैन साधु के लिये बारह कुल की गोचरी बताई गयी है।

वे कुल इस प्रकार है —(१) उग्रकुल (२) भोगकुल (३) राजन्यकुल (४) क्षत्रिय कुल (५) इक्ष्वाकु कुल (६) हरिवश कुल (७) एष्य (गोपाल) कुल (८) ग्राम रक्षक कुल (९) गडक नापित कुल (१०) कुट्टाक कुल (११) वर्द्धकी कुल (१२) बुक्कस (तन्तुवाय) कुल इस प्रकार के अन्य भी अदु गुछनीय कुल मे जैन मुनि भिक्षा ले सकते हैं।

[आचाराङ्ग, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन १ उ० २, सूत्र ११]

प्रश्न ३ देवकी के पुत्रो का हरिणैगमेषी द्वारा सहरण क्यो किया गया ?

उत्तर—देवकी ने पूर्व जन्म मे अपनी जेठानी के छ रत्न चुराये थे। उसके बदले मे इसके छ पुत्र चुराये गये। उसके कृत कर्म का यह भोग था। कथा इस प्रकार है —

सुलसा और देवकी पूर्व जन्म मे देवरानी और जेठानी थी। एक वार देवकी ने सुलसा के ६ रत्न चुराकर भय के वश किसी चूहे के बिल मे डाल दिये। बिल मे छुपाने का मतलव यह था कि खोजने पर कदाचित् मिल भी जाय तो मेरी वदनामी नही हो, और चूहो ने इधर उधर कर दिया समझ कर सतोष कर लिया जायगा। कदाचित् उनको नही मिले तो कुछ दिनो के बाद मैं इन्हे अपने वना सकू गी। सयोगवश वे रत्न देवरानी को मिल गये और उनकी नजरो में चूहा चोर समझा गया। कहा जाता है कि वह चूहा हरिणैगमेषी देव

बना और पूर्वभव मे देवरानी सुलसा के रत्न चुराने के कर्म के फलस्वरूप देवकी के पुत्रो का हरण हुआ और चूहे पर चोरी का दोष मढा जाने से 'हरिणैगमेषी' देव ने उनका हरण कर सुलसा के पास पहुचाये। 'हरिणैगमेषी' देव ही चूहे का जीव कहा गया है। देवकी ने जेठानी के रूप में रत्न चुराये अत उसको पुत्र रत्न की चोरी का फल भोगना पडा।

प्रश्न ४ देवकी को भविष्य कहने वाले, अतिमुक्त-कुमार श्रमण कौन थे और वे किस तीर्थंकर के समय हुए ?

उत्तर—देवकी को पोलासपुरी नगरी मे भविष्य कहने वाले अतिमुक्त कुमार श्रमण-भगवान् महावीर के शिष्य अति-मुक्त से भिन्न है। ये इक्कीसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के शासनवर्ती है। अतिमुक्तक मुनि कसराज के छोटे भाई थे। जब उग्रसेन को कारावास मे डालकर कस स्वय मथुरा का राजा बन गया तो अतिमुक्तक कुमार को वैराग्य हो गया। उसने दीक्षा ग्रहण करली, और उग्रतप करने लगा। दीक्षित होकर उन्होने मास-क्षमण की तपस्या की। एक बार विचरण करते हुए मथुरा नगरी आए और भिक्षार्थ घूमते हुए कस के घर मे प्रवेश किया। कस की पत्नी जीवयशा उस समय अपनी ननद देवकी का सिर गून्थ रही थी। अतिमुक्त श्रमण के आने पर जीवयशा उनके जाने का मार्ग रोककर खडी रही और देवर मुनि से हसी करती हुई बोली—महाराज। तुम्हारा भाई राज्य करता है और तुम लिये घर घर मागते फिरते हो, इससे हमको बडी लज्जा ती है। छोडो इस वेश को और राज्य मे आ जाओ। इस अधिक समय तक हसी करनेपर मुनि से नही सहा गया। रुष्ट हो जीवयशा से कहा—क्यो इतना गर्व करती

हो, जिसके तुम वाल गून्थ रही हो उसी वालिका का सातवा पुत्र तुम्हे विधवा वनायेगा। वह तुम्हारे पति और पिता दोनो का सहारक होगा। अभी तुम्हारे पुण्य थोडे शेष है। अत गर्व मत करो। ऐसा कह कर मुनि चले गये। छ मुनियो को देखकर देवकी को अतिमुक्त मुनि की वात याद आ गई। इस प्रकार ये अइमुत्तमुनि भ महावीर के शासनवर्ती अइमुत्त से भिन्न हैं।

प्रश्न ५ अतगडदशा मे वर्णित अइमुक्त कुमार और भगवती सूत्रानुसार पानी मे पात्र तिराने वाले एवन्ता मुनि एक हैं या अन्य। एक हैं तो उनकी सक्षिप्त घटना क्या है? और किस शास्त्र में है ?

उत्तर—पात्र तिराने वाले एवन्ता कुमार भ० महावीर के शिष्य थे। अतगड मे वर्णित अइमुक्त मुनि से भिन्न नही, एक ही है। घटना इस प्रकार है —

वर्षा हो चुकने पर जव अतिमुक्त मुनि वगल मे छोटा सा रजोहरण और हाथ मे पात्री लिये स्थविरो के साथ वाहिर भूमिका गये हुए थे, तव जल्दी उठ जाने से उनको खडा रहना पडा, छोटे नाले को देखकर उन्हे वचपन की स्मृतिया हो आई और उस समय वहा बहते हुए छोटे नाले को मिट्टी की पाल वाधकर रोका। पात्री को पानी मे डाला और उसे नाव वना-कर खेलने लगे। साथी स्थविर सन्तो ने जव उसे पात्र तिराते देखा तव उनको शका हुई। भगवान् से पूछा—भगवन्! आपका शिष्य अतिमुक्तकुमार श्रमण कितने भव करके सिद्ध होगा? भगवान् ने उत्तर मे स्पष्ट कहा—आर्यो! मेरा अन्तेवासी अति-मुक्त मुनि इसी भव से सिद्ध होगा। इसकी तुम अवहेलना, निन्दा

मत करो, किन्तु इसकी अग्लान भाव से वैयावृत्य करो।
(भगवती शतक ५ उद्देशक ४)

प्रश्न ६ अतिमुक्त (एवता) कुमार ने जब दीक्षा ली तब कितने वर्ष के थे और इतने लघु वय के बालक को भगवान् महावीर ने दीक्षा कैसे दी ?

उत्तर—टीकाकारो के मतानुसार एवता कुमार दीक्षा के समय लगभग सात वर्ष के थे। सूत्रकार ने उनकी दीक्षा के एक दो दिन पहले का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि वे लडके लडकियो के साथ खेल रहे थे। इससे टीकाकार के मत को समर्थन ही मिलता है, क्योकि वडी वय के लडको का लडकियो के साथ खेलना उचित नही जचता।

जव एवता ने माता पिता से दीक्षा की आज्ञा मागी, तव उन्होने उसको कहा कि हे पुत्र! अभी तुम बच्चे हो, ना समझ हो। माता पिता के द्वारा कहे गये इस प्रकार के वचनो से भी एवता के दीक्षा के समय की अवस्था छोटी ही सिद्ध होती है।

जव एवता ने माता पिता से आज्ञा मागी तव माता पिता को मूर्च्छा नही आई, यदि आज्ञा मागने के समय वे वालक न होते, समझदार होते तो माता को मूर्च्छा आ जाती जैसा कि अन्य माताओ को अपने पुत्र द्वारा आज्ञा मागने पर मूर्च्छा आ गयी थी। इस प्रसग से भी एवता की अवस्था दीक्षा के समय छोटी ही सिद्ध होती है।

श्री गौतम स्वामी को गोचरी के लिये घूमते देखकर एवता ने विना वदन किये ही उनसे पूछा था कि आप कौन हैं, और क्यो घूम रहे हैं? एवता के इस प्रश्न से भी वे वालक ही

सिद्ध होते है । अन्यथा यदि वे बडे होते तो विशेष सभव यही था कि वे वदन करते और ऐसा प्रश्न नही पूछते । इस प्रकार उनकी अवस्था सात वर्ष या कुछ आगे पीछे हो सकती हे । पर थे वे आठ वर्ष से कम ।

भगवान् आगम व्यवहारी होने से उनको लघु वय मे भी योग्य समझा अत सयम प्रदान किया । केवली के लिये इस प्रकार का नियम बधन कारक नही होता ।

प्रश्न ७. गुरुदेव ! आप कहते है कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार ही सुख-दु ख का भोग करता है । किन्तु उसमें कोई न्यूनाधिक नहीं कर सकता, फिर श्रीकृष्ण ने देवता का आराधन क्यो किया ? और देव से मागनी क्यो की ? क्या देव किसी को पुत्रादि दे सकते है ?

उत्तर—यह बात सही है कि जीव अपने कर्मानुसार ही सुख-दु ख भोगता है । विना कर्म के कोई किसी को न सुख देता और न दु ख ही । भगवती सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि—'जीवा सय कड दुक्ख वेदेई, नो पर कड, नो तदुभय कड, दुक्ख वेदेइ ।' गौतम ! जीव स्वकृत ही दु ख का वेदन करता है, पर कृत या उभयकृत दु ख का भोग नही करता । ससार के अन्य पदार्थ सुख-दु ख के वेदन मे निमित्त अवश्य बनते है । जैसा कि पिता-पुत्र के लिए और पुत्र पिता के लिये । पति पत्नी के लिए और पत्नी पति के लिए, स्वामी सेवक के लिये और सेवक स्वामी के लिये, सुखदायी प्रतीत होते है, परन्तु सही स्थिति यह है कि यहा भी पिता पुत्रादि मात्र निमित्त है । सुख-दु ख तो अपने कर्म के अनुसार ही होता है । ससार मे विविध मणि-रत्नादि मूल्यवान पदार्थ और रोगापहारी औषधिया विद्यमान है फिर

करने का उल्लेख है। तो क्या पूर्व समय मे स्त्रिया समवसरण मे नहीं बैठती थीं। साध्वियो के लिये भी ऐसा कोई वर्णन है क्या ?

उत्तर—शास्त्र मे जहा-जहा भी किसी राणी या श्रेष्ठी पत्नी के सेवा का उल्लेख मिलता है, वहाँ स्पष्ट रूप से 'ठिया चेव पज्जुवासइ' लिखा गया है। जैसे मृगावती और देवानन्दा के वर्णन मे शास्त्रकार कहते है—'उदायण राय पुरओ कट्टु ठिइया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी विवरण पज्जुवासइ' । भ० ९-६ । दोनो जगह साफ लिखा है कि मृगावती महाराज उदायन को और देवानन्दा ऋषभदत्त ब्राह्मण को आगे करके स्थित—खडी-खडी ही सेवा करने लगी। 'स्थितवा' शब्द का अर्थ बैठना करना, शब्द शास्त्र और टीकाकार दोनों की परम्परा से मेल नही खाता। टीकाकार ने स्थित का अर्थ किया है। 'ठिया चेवत्ति ऊर्ध्वस्थानस्थितैव अनुपविष्टे त्यर्थ' । अर्थात् ऊँचे आसन से स्थित अर्थात् खडी बिना बैठे ही सेवा करने लगी। फिर देशना के बाद ऋषभदत्त के लिये तो 'उट्ठाए उट्ठे इ' पद आता है। परन्तु देवानन्दा जब भगवान् की प्रार्थना करती है उस समय केवल—'सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा समण भगव' पाठ आता है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि देवानन्दा खडी थी इसलिये उसके वास्ते खडे होकर बोलने का नही कहा गया।

क्या ऐसा भी कही विधान है कि—स्त्रिया समवसरण मे बैठे नहीं। शास्त्र मे बैठने का कहीं निषेध किया हो ऐसा विधिसूत्र तो नही मिलता पर जितने उदाहरण श्राविकाओ के आये हैं उन सब मे खडे रहने का ही उल्लेख है। मालूम होता है उस समय कोई भी श्राविका देशना श्रवण या सेवा

के लिये समवसरण मे बैठती नही थी। साध्वियो के लिये खडे रहने या बैठने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही होता।

प्रश्न १२ 'ठिच्वा' पद से समवसरण मे स्त्रियो के नही बैठने का टीकाकार आचार्यो ने जैसा अर्थ किया है, वैसा मानने का कोई खास कारण है या पुरुषो से स्त्रियो की हीनता बताने को उनके साथ पक्षपात बरता गया है ?

उत्तर—समवसरण मे स्त्रियो के नही बैठने के उल्लेख मे हमारी दृष्टि से निम्न कारण हो सकते है —

(१) प्रधान कारण ब्रह्मचर्य-गुप्ति और स्त्रियो का विनयातिरेक प्रतीत होता है। खुली भूमि पर पुरुषो के बैठने के स्थान पर स्त्रियो का बैठना ब्रह्मचर्य-गुप्ति मे बाधक माना गया है। अत समवसरण मे स्त्रिया नही बैठती है।

(२) साध्वियो की तरह समवसरण मे स्त्रियो के बैठने का स्थान स्वतन्त्र नही होता। कुछ तो अपने पति के साथ आती वे पति के पीछे ही खडी रहती और कुछ अलग आने वाली भी अपने परिवार के साथ यथोचित स्थान मे खडी रह जाती।

(३) साधुओ के यहाँ स्त्रियो का ससर्ग अधिक नही बढे इसलिए भी उनके लिये उपदेश सुनकर खडे-खडे ही विदा हो जाने की परिपाटी रखी गयी हो।

(४) फिर भगवान् और सन्तो के आदरार्थ भी महिला-वर्ग ने खडा रहना ही स्वीकार किया हो तो कोई आश्चर्य नही। क्योकि पुरुषो की अपेक्षा स्त्री जाति अधिक भक्ति प्रधान होती है। अत उन्होने समवसरण मे सम्पूर्ण देशना तक खडी रहकर सुनने की ही परिपाटी अपनाई हो।

जो भी हो इतना सुनिश्चित है कि समवरण मे स्त्रियाँ नही बैठे इसके पीछे स्त्रियो की हीनता बताने जैसा कोई दृष्टिकोण नही है। और न यह वलात् लादी हुई व्यवस्था है। यह तो स्त्री एव पुरुष दोनो के आध्यात्मिक हित को लक्ष्य मे रखकर की गयी व्यवस्था है।

प्रश्न १३. गजसुकुमाल मुनि को ध्यान स्थित देखकर सोमिल को इतना द्वेष क्यो हो गया जिससे कि उसने गज-सुकुमाल के सिर पर अङ्गारे रख दिये ?

उत्तर—सोमिल का गजसुकुमाल के साथ पूर्वजन्म का वैर था। लाखो भव पहले की बात है। गजसुकुमाल पूर्वभव मे एक राजा के यहाँ राणी का जीव था। राजा की दो राणियो मे एक के पुत्र था और दूसरी को नही। दूसरी राणी प्रथम राणी के पुत्र पर बडा द्वेष रखा करती। उसने सोचा कि इसी पुत्र के कारण मेरा मान घटा और सपत्नी का मान वढा है तो किसी तरह यह मर जाय तो अच्छा। एक बार जब राणी के पुत्र को सिर मे वेदना हुई और वह वेदना से विकल होकर छटपटाने लगा तो दूसरी राणी प्रसन्न हुई। उसने अवसर का फायदा उठाने के लिये पहली राणी से कहा—"अच्छा लाओ, मैं इस प्रकार के दर्द को मिटाने का उपाय जानती हूँ। अभी इसको ठीक कर देती हूँ।" भद्र स्वभाव की होने से पहली राणी ने अपना पुत्र दूसरी को सम्भला दिया। राणी ने उडद के आटे की रोटी गर्म करके बच्चे के सिर पर वाध दी। बालक की वेदना तीव्र हो गयी। वह इस बढती हुई वेदना से छटपटाकर अल्पकाल मे ही काल कर गया। सोमिल उस बालक का जीव था। गजसुकुमाल के जीव ने दूसरी राणी के रूप मे बालक के सिर पर द्वेष से गर्म रोटी

खण्ड साधना करते हुए भरत महाराज का जब चिलातो के अनार्य खण्ड मे जाना हुआ तो अनार्यो ने मुकावला किया। पराजित होने पर कुल-देव का स्मरण किया। उन्होने आकर कहा कि ये चक्रवर्ती है। इनको हराना हमारा काम नही है। हम तुम्हारे प्रीत्यर्थ कुछ उपद्रव करते है। सात दिन तक देव मूसलाधार बरसते रहे किन्तु भरत के मन मे विचार आते ही जब सेवक देव उपस्थित हुए तो म्लेच्छो के कुल देव क्षमा माग कर चले गये। चिलातो को भरत का शरण स्वीकार करना पडा। अत कृष्ण का देवाराधन माता के सन्तोषार्थ ही समझना चाहिये।

प्रश्न ८ देव वास्तव में कुछ नहीं देते तब सुलसा को देवकी के पुत्र कैसे दिये, क्या यहा भी कर्म ही कारण है ?

उत्तर—सुलसा को देवकी के पुत्र देने की बात मे भी रहस्य है, सुलसा और देवकी के बीच कर्म का कर्ज था एव देव उस बीच मे आरोपी माना गया था, अत उसने देवकी के पुत्र लेकर सुलसा को पहुचा दिये। यदि सुलसा का लेना नही होता तो देव यह परिवर्तन भी नही कर पाता। सुलसा ने पुरुषार्थ किया उसके फलस्वरूप उसके पूर्व जन्म के रत्न हरिणैगमेपी के निमित्त से मिले गये। इसमे भी उसके कर्मानुसार फल भोग मे देव मात्र निमित्त बना है। मुख्य कारण कर्म ही है। मूल से यदि देव मे कुछ देने की शक्ति होती तो सुलसा के मृत पुत्रो को भी जीवित कर लेता, किन्तु वैसा नही कर सका।

प्रश्न ९ सम्यग्-दृष्टि श्रावक के लिए धार्मिक दृष्टि से देवाराधन करना और उसके लिये कोई तपाराधन करना उचित है क्या ?

उत्तर—धार्मिक दृष्टि से सम्यग् दृष्टि देवाधिदेव अरिहत को ही आराध्य मानता है। अन्य सभी देव ससारी है। वे

प्रमोद भाव से देखने योग्य है। दृढधर्मी व्रती श्रावक ससार के सकट मे भी उनकी सहायता नही चाहता, और उनको वदन नही करता। अरणक श्रावक ने प्राणान्त सकट मे जहाज उलटने की स्थिति आने पर भी कोई देवाराधन नही किया। उलटे उसकी दृढता से प्रसन्न होकर देव दिव्य कु डल की जोडी प्रदान कर गया। अतगड का सुदर्शन श्रावक भी मुग्दर-पाणि यक्ष के सम्मुख सागारी अनशन कर ध्यान मे स्थित हो गया, पर किसी देव की सहायता ग्रहण नही की।

सम्यग् दृष्टि का दृढ निश्चय होता है कि असख्य देवी देवो का स्वामी इन्द्र जिनका चरण सेवक है उन देवाधिदेव अरिहन्त की उपासना करने वाले को अन्य किसकी आराधना शेष रहती है। चितामणि को पाकर भी फिर कोई काच के लिये भटके तो उसे बुद्धिमान् नही कहा जा सकता।

प्रश्न १० चक्रवर्ती खड साधन करते समय देवाराधन के लिये अष्टम तप करते हैं और श्रावको के लिये कुलदेव के पूजा की वात कही जाती है तो क्या वह ठीक नहीं है। उसका मर्म क्या ह।

उत्तर—चक्रवर्ती छ खड साधना के समय १३ तेले करते यह खड साधन की व्यवस्था है। इसमे किया गया अष्टम भी धार्मिक तप नही है, जैसे मडलपति राजाओ को शस्त्र वल और सैन्य वल से प्रभाविन कर झुकाया जाता है। ऐसे ही अमुक खड या देवकी साधना मे अष्टम तप के वल से उनको आकृष्ट एव प्रभावित किया जाता है। यह उनका शाश्वत व्यवहार है। सम्यग् दृष्टि उन देवो को वदनीय नही मानता।

श्रावको के नित्य कर्म मे कही भी कुल देव की पूजा का विधान नही मिलता, वल्कि आनद आदि श्रावको ने तो यह

स्पष्ट कर दिया है कि मुझे अरिहत देव के सिवाय अन्य किसी देव को वदन करना नही कल्पता। जैसा कि 'नन्नत्थ अरिहते वा अरिहत-चेइयाणिवा'। अधिक से अधिक वे कुल देव को मित्र-भाव से देख सकते है। सम्यग्-दृष्टि या शासन रक्षक देवो का भी मित्र भाव से ही स्मरण किया जाता है। आराध्य या वदनीय तो अरिहत देव ही है। सम्यग्-दृष्टि को अधिक से अधिक अरिहत देव का ही स्मरण-भजन और आराधन करना चाहिये। इनके चरणो मे अन्य सब देव आ जाते है। इनकी आराधना से धर्म का धर्म और अशुभ कर्म की निर्जरा से भौतिक लाभ भी अनायास ही मिल जाता है। यह अपने ही सत् पुरुपार्थ का फल है। कविवर विनयचन्द्र जी ने कहा है कि—आगम साख सुणी छे एहवी, जो जिन सेवक होय हो, सोभागी। आशा पूरे तेनी देवता, चोसट इन्द्रादिक सोय हो सो०। श्रावक मे यह दृढ विश्वास होने के कारण ही वह किसी सरागी देव की भक्ति नही करता, हा, कौटुम्बिक शान्ति के लिये वह किसी कुलाचार को कुलाचार के रूप मे करे यह दूसरी वात है। यहा कुटुम्व की पराधीनता है फिर भी वह किसी कुल देव की पूजा को पुण्य या धर्म नही मानता। इस प्रकार के सहाय को अपनी दुर्बलता मानता है।

सम्यग्-दृष्टि-धार्मिक दृष्टि से केवल अरिहत देव को ही आराध्य मानता है। अन्य सरागी देव को धर्म वुद्धि से मानना, पूजना या उनके लिये कोई तप करना सम्यग्-दृष्टि उचित नही मानता, व्यवहार मे जो चक्रवर्ती के खड-साधन के तेले और भिन्न देव के स्मरणार्थ कोणिक या अभयकुमार का तप भी अविरत दशा मे ही सभव होता है क्योकि व्रती सम्यग्-दृष्टि देव या दानव का भी सहयोग नही चाहता उसके लिये

शास्त्र मे असहेज्ज कहा है (कुल परम्परा से किसी के घर मे देवपूजा चालू भी हो तो व्रती श्रावक उसको केवल कुलाचार ही मानता एव समझता है) मिथ्यात्वी देवी-देव की मान्यता तो गलत है ही, पर श्रावक सम्यग्-दृष्टि देव को भी आराध्य बुद्धि से नही पूजता। अभयकुमार ने माता के दोहद पूरा करने को तप किया, पौषधशाला मे ब्रह्मचारी होकर देव का स्मरण करता रहा फिर भी सकाम होने से उन्होने इसको धर्म करणी नही समझा। यह स्वार्थतप या सकाम तप ही माना गया। सकाम तप मे भी धूप दीप आदि का प्रयोग नही करके केवल तप और शान्ति के साथ मे मन मे चिन्तन करते हुये देव को वश मे करना उस समय की खास ध्यान देने योग्य बात है।

व्रती साधक तो निष्काम तप करते है उन्हे सहज ही तपोवल से कुछ लब्धिया उत्पन्न हो जाती है और विना चाहे देव भी उनकी सेवा करने लगते हैं जैसे हरिकेशी की तिन्दुक-यक्ष सेवा करता रहा। कामदेव के चरणो मे यक्ष नत मस्तक हुआ।

सम्यग्-दृष्टि जन्म-मरण के वन्धन काटने को तप नियम करता है। देवी, देव स्वय जन्म-मरण के चक्र मे पडे हुए हैं। हर्ष-शोक, सयोग-वियोग और सुख-दु ख उनको भी भोगने पडते हैं तव भक्ति करने वालो को वे दु ख मुक्त क्या कर सकेंगे। अत सम्यग्-दृष्टि वीतराग परमात्मा को ही आराध्य मानता है क्योकि वे हर्ष-शोक एव दु ख से मुक्त हो चुके है।

प्रश्न ११ महाराणी देवकी जव भगवान् नेमनाथ को वदन करने को गई। तव समवसरण मे उसके खड़ी-खडी सेवा

फिर भी नियतकाल मे होने से इसको आयु का टूटना या अकाल मरण नही कह सकते।

दूसरा यह भी है कि जिसका जिस कारण से मरण निश्चित हो गया है उसका उस निमित्त से मरण होना काल मरण ही कहा जायेगा अकाल मरण नही। अत इसको सैद्धान्तिक बाधा नही समझनी चाहिये।

प्रश्न १५ श्रीकृष्ण के समय मे भिन्न जाति के लडके-लड़कियो मे भी क्या विवाह सम्बन्ध होता था ? ब्राह्मण पुत्री सोमा को गजसुकुमाल के लिये कन्याओ के अन्तःपुर मे रखने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—प्राचीन समय के उदाहरणो को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय जातीय बंधन इतने कठोर नही थे, अथवा तो उसमे खास व्यक्ति-विशेष या योग्यता को अपवाद माना जाता था। चक्रवर्ती के लिये विद्याधर कन्या से पाणि-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। राजाओ को अन्य कुल की सुलक्षण कन्या से भी प्रीति हो जाती तो उनके लिये वह कथनीय नही माना जाता। सभव है श्रीकृष्ण द्वारा सोमा का चयन भी इसी आधार से किया गया हो। अधिकता से उस समय क्षत्रिय पुत्रो का राज कन्याओ से और श्रेष्ठी पुत्रो का समान कुल वाली श्रेष्ठी कन्याओ से ही पाणिग्रहण का उल्लेख आता है। पाणिग्रहण के समय समान-कुल शील वाली कन्याओ से ऐसा उल्लेख मिलता है, जो प्राय सजातीय मे ही सभव हो सकता है। कुलशील का महत्त्व होने से उस समय जातीय बंधनो को सभव है इतना कडक नही किया गया हो। परतु जब साधारण लोग रूप पर मुग्ध होकर हीनकुलो के साथ भी

मोह भावना से संवध करने लगे तव उस पर कड़ाई से प्रतिवंध करना आवश्यक हो गया हो। उचित समझ कर विक्रम राजा ने जातीय व्यवस्था का निर्माण किया, जो भी हो स्वेच्छाचार से कुलशील का विना विचार किये इधर उधर संवध करना अहितकर है। पूर्व समय मे न स्वेच्छाचार इतना वढा था और न जातीय वंधन का ही आग्रह था। योग्यता और प्रेम से एक जाति का अन्य जाति मे भी संवध होता था। समान शील और संस्कार का प्राय ध्यान रखा जाता था।

प्रश्न १६ द्वारिका का विनाश क्यों हुआ और नगरी के विनाश मे निमित्त न वनूं, इस विचार से ऋषि द्वीपायन द्वारिका नगर छोड़कर वहुत समय तक दूर ही घूमते रहे। फिर उसको विनाश मे निमित्त क्यों माना ?

उत्तर—सर्व विदित वात है कि ससार के दृश्यमान् पदार्थ सव आगे-पीछे नाशवान् है, यही कारण है कि श्री कृष्ण ने देव-निर्मित द्वारिका को भी नाशवान् समझकर नाश के कारणों को जानना चाहा। भगवान् ने द्वीपायन के द्वारा जव द्वारिका नगरी का नाश वतलाया तव श्रीकृष्ण ने नगरी के संरक्षण हेतु यह घोषणा करवाई कि कोई भी द्वारिकावासी यदि नगरी का कुशल चाहता है तो दारू-मास का सेवन नही करे। और नश्वर तन से लाभ लेने तथा अशुभ कर्म को काटने के लिये शक्तिपूर्वक कुछ न कुछ तप नियम का साधन अवश्य करे। मद्य के कारण द्वारिका का दाह होगा इसलिये नगरी का सारा मद्य इकट्ठा करवाके जगल में फिकवा दिया। द्वीपायन ऋषि जो वहीं नगरी के वाहर आश्रम मे कठोर तप कर रहा था। वहुत दिनो के पश्चात् एक दिन यादव कुमार वन-विहार को निकले और जंगल मे भूल से रहे हुए मद्य घट

को देखकर पान कर गये । मद्य का स्वभाव सहज ही भान भुलाने का होता है, यादव कुमार नशे मे उन्मत्त होकर नगर की ओर चले तो रास्ते मे द्वीपायन ऋषि को देख क्रुद्ध होकर वे ककर-पत्थर फेंकने लगे और वोले यही विचारा द्वीपायन हमारी द्वारिका को जलायेगा। द्वीपायन ने कुमारो द्वारा पुन-पुन किये गये अपमान और अवहेलना वचन से क्रुद्ध होकर निदान कर लिया कि तपस्या का फल हो तो मैं यादव सहित द्वारिका को जलाने वाला वनू । कुमारो का नशा उतरा तो उन्होने श्रीकृष्ण से आकर सारी वात कह सुनायी। कृष्ण भी वलदेव के साथ द्वीपायन के पास गये और उसको शान्त करते हुए निदान नही करने का निवेदन करने लगे। द्वीपायन ने कहा—मैने निर्णय कर लिया है—केवल तुम दोनो भाइयो को नही मारूगा। यह वचन देता हूँ।

अन्त समय मे आयु पूर्ण कर वह द्वीपायन अग्निकुमार देव के रूप मे उत्पन्न हुआ और वैरानुवन्ध के कारण नगरी पर द्वेप करने लगा। किन्तु नगरी मे आयविल तप चल रहा था। कोई उपवास, कोई वेला तो कोई आयम्बिल जरूर करता। तप के प्रभाव से इधर-उधर चक्कर काटने पर भी देव का जोर नही चला और पूरे ग्यारह वर्ष वीत गये। जव लोगो ने देखा कि अव तो समय टल गया है, वस मन-माने मद्य पीने लगे और तप का साधन वद कर दिया। देव अपने वैर वसूली का समय देख रहा था। ज्योही तपस्या वद हुई भूमि-कप, उल्कापात आदि उपद्रव होने लगे और नगरी पर अग्निवर्षा शुरू हो गई। रोने तथा चिल्लाने पर भी किसी को कोई सहायता देने वाला नही मिलता। कृष्ण और वलभद्र वडे दुखित हृदय से माता-पिता को निकालने लगे, वसुदेवजी एव

देवकी को रथ मे विठाकर दोनो भाई रथ खेंचते हुए चले पर दैववशात उनको भी नही निकाल सके, आखिर अनशन कर दोनो माता-पिता ने द्वीपायन द्वारा वर्षा की गई आग मे जलकर आयु पूर्ण किया और स्वर्ग के अधिकारी वने ।

प्रश्न १७ स्थानाग सूत्र स्थान दस के अनुसार अन्त-कृत दशा सूत्र मे १ नमि, २ मातग, ३ सोमिल, ४ राम-गुप्त, ५ सुदर्शन, ६ जमालि, ७ भगाली, ८ किंकम, ९ चिल्लक और १०, अम्बड-पुत्र फाल, इन दस जीवों का वर्णन होना चाहिये, वह इस अन्तगड सूत्र मे क्यो नहीं ?

उत्तर—भगवान् महावीर के ११ गणधरो की द्वादशाग सवधी नव वाचनाए हुई है, जैसे—आदि के सात गणधरो की सात, आठवें नवमे गणधर की आठवी और दसवे ग्यारहवें गणधर की नवमी, इनमे किसी एक वाचना मे प्रश्नगत दस जीवो का वर्णन हो सकता है । किन्तु वर्तमान वाचना उस वाचना से अन्य, सुधर्मास्वामी की वाचना है, अत इसमे उन दस जीवो का वर्णन नही मिलता । इसको वाचनान्तर समझना चाहिये ।

तीर्थंकर, अन्त करने वाले अनेको जीवो का वर्णन सुनाते है, उनमे से किसी वाचना मे गणधरो द्वारा किन्ही का वर्णन गून्था जाता है । दूसरे किसी वाचना मे उनसे भिन्न किन्ही दूसरो का ही वर्णन किया जाता है, अत वर्तमान अतगड सूत्र मे उनका नही मिलना आपत्तिजनक नही समझना चाहिये ।

प्रश्न १८ अन्तकृत दशांग मे श्रीकृष्ण को आगामी वारहवां तीर्थंकर होना वताया है, जवकि समवायाग मे भावी

चौबीस तीर्थंकरो के नाम और उनसे पूर्व भव के जो नाम बताये हैं उनकी गिनती करने पर कृष्ण आगामी तेरहवें तीर्थंकर ठहरते हैं। इसका समन्वय क्या है ?

उत्तर—श्री वासुपूज्य स्वामी की प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ से गणना की जाय तो वे बारहवे होते हैं और चौवीसवे श्री महावीर स्वामी को प्रथम मानकर पीछे से गणना की जाय तो वासुपूज्य तेरहवे आते है। वैसे ही श्रीकृष्ण को भावी तीर्थंकरो मे प्रथम तीर्थंकर श्री महापद्म की ओर से (पूर्वानुपूर्वी से) गणना की जाय तो वे तेरहवे आते है और अतिम तीर्थंकर श्री अनतविजय की ओर से (पश्चादनुपूर्वी) से गणना की जाय तो बारहवे होते है।

अतकृत दशाग मे पिछली गिनती से बारहवे तीर्थंकर होना बताया तथा समवायाग मे पहली गिनती से तेरहवे स्थान पर उन्हे रखा हो ऐसा सभव प्रतीत होता है। इस प्रश्न के समाधान मे श्रमण परपरा मे प्राचीन समय से ऐसी ही मान्यता चली आ रही है।

प्रश्न १९ अन्तगड्दशा सूत्र मे अर्जुन माली के द्वारा जो ५ मास १३ दिन मे ११४१ हत्यायें हुई, उसका पाप अर्जुन को लगा या यक्ष को ?

उत्तर—अर्जुन द्वारा की गई हत्याओ मे अर्जुन और मुद्गरपाणी यक्ष के अतिरिक्त अन्य भी सहयोगी होते है। छहो गोठिले पुरुष जो कुछ अच्छा या बुरा करे वह अच्छा ही किया, ऐसा मानकर उपेक्षा करने वाले नगर जन और अधिकारी भी इस हत्या को अपेक्षा से समर्थक माने जा सकते है, क्योकि यदि वे आरम्भ मे ही इसका विरोध करते तो इस

प्रकार हत्या का कारण ही उपस्थित नही होता, अत कुछ पाप नगरवासियो को भी लगना चाहिये ।

फिर राजा ने उन्हे इस सबध मे छूट दे रखी थी, यद्यपि राजा को भविष्य मे इस प्रदत्त वर से ऐसी हत्याये होने की कल्पना नही रही होगी, फिर भी उनका ऐसा वरदान इस हत्या मे निमित्त तो बना ही । इसलिए राजा को भी पाप अवश्य लगना चाहिये ।

ललित गोष्ठी के छहो पुरुषो ने अर्जुन को बाधकर बन्धुमती के साथ भोग भोगना आरम्भ किया, जिससे अर्जुन माली उत्तेजित हुआ और यक्ष को याद किया । अत कुछ पाप उन्हे भी लगना चाहिये ।

बन्धुमती ने अर्जुन माली को बाधने के समय यदि इधर-उधर किसी को बुलाने करने आदि का कहा होता और शील रक्षा के लिए भागने चिल्लाने का प्रयत्न किया होता या पति के सामने ही वह इस प्रकार के व्यभिचार मे सम्मिलित न हुई होती तो अर्जुन माली को इतनी अधिक उत्तेजना नही मिलती, अत बन्धुमती का भी इस सबध मे कुछ अपराध मानना पडता है ।

अपने बधन और अपनी स्त्री के साथ किये गये व्यभिचार मे क्रुद्ध हो अर्जुन माली ने मुद्गरपाणी यक्ष की मूर्ति के प्रति ऐसे अविश्वास पूर्ण विचार प्रकट किये जिसमे प्रेरित होकर ही मुद्गरपाणी यक्ष आया, अत अर्जुन माली को तो पाप लगा ही ।

अर्जुन माली के उत्तेजना पूर्ण विचारो से मुद्गरपाणी यक्ष आवेश मे आ गया और उसने आते ही सात प्राणियो की

हत्या कर दी और आगे वह १६३ (एक सौ त्रेसठ) दिन तक हत्या करता रहा। अत यक्ष को भी पाप लगा।

अर्जुन माली तीव्र कषाय के आधीन हो सबसे अधिक उत्तेजित हुआ और यक्ष का भी मूल प्रेरक रहा अत यक्षावेश मे पराधीन हो जाने पर भी मूल प्रेरणा के कारण उसे सबसे अधिक वध करने वाला मानना चाहिये। फिर जैसा ज्ञानी स्वीकार करे वही तथ्य है।

प्रश्न २० शत्रु जय पर्वत पर अतकृत सूत्र के अनुसार कई जीव सिद्ध हुए हैं, फिर उसे तीर्थ मानने मे क्या बाधा है ?

उत्तर—शत्रु जय पर्वत पर अनेक जीवो के सिद्ध होने की बात सही है। पर ऐसी भूमि कौनसी है जहाँ कोई जीव सिद्ध न हुआ हो। अत जीवो के सिद्ध होने भर से किसी क्षेत्र को तीर्थ मान लेना उचित प्रतीत नही होता। तीर्थ का अर्थ तारने वाली भूमि या जल से ऊपर का भूभाग है अर्थात् जिसके द्वारा तिरा जाय उसे तीर्थ कहते हैं। तिराने वाली भगवान् की वाणी, 'तीर्थ' है या उसे सुनाने वाले साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविकाए तीर्थ हैं। परन्तु शत्रु जय पर्वत किसी को तिराता नही, अत उसे तीर्थ नही माना जा सकता। सतो के चरण स्पर्श और साधना से वह पवित्र भूमि कही जा सकती है। एकान्त शान्त होने से यह भी कल्याण साधन मे निमित्त हो सकती है वन्दनीय नही।

यदि जीवो के सिद्ध होने के कारण ही किसी क्षेत्र को तीर्थ मानना हो तो उस सम्पूर्ण अढाई द्वीप को ही तीर्थ मान लेना चाहिये क्योकि अढाई द्वीप की एक अगुल के असख्यातवे

भाग जितनी भूमि भी ऐसी नही है जहा से कोई सिद्ध न हुए हो। पन्नवणा सूत्र के सोलहवे पद मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

शत्रुजय को तीर्थ मानने वाले भी भगवान् नेमिनाथ के शासन मे शत्रुजय पर कई जीव सिद्ध हुए, इसलिए ही शत्रुजय को तीर्थ नही मानते हैं किन्तु अनादि काल से इसको तीर्थ मानते आए, इसलिए तीर्थ मानते है। परन्तु यह मान्यता मिथ्या है क्योकि शत्रुजय पर्वत शाश्वत नही है। अशाश्वत पर्वत अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे की समाप्ति पर उठने लगते है और पाचवे आरे की समाप्ति पर पुन भूमिसात् हो जाते है। मध्यकाल मे भी इनमे घट-बढ, बनाव-बिगाड और चल-विचलता होती रहती है। फिर शास्त्र मे मागध, वरदाम और प्रभास को जैसे तीर्थ नाम से बतलाया वैसे शत्रुजय को शास्त्र मे कही तीर्थ नही कहा है। यह तो पाश्चात्कालवर्ती लोगो ने सामाजिक प्रभुता और क्षेत्र की महिमा बढाने को तीर्थ रूप मे इसकी स्तवना की है।